पुल टूटते हुए

शारदा प्रकाशन, नई दिल्ली

. संस्करण
1986
ISBN—81-85023-34-3

पुल टूटते हुए : कहानी-संग्रह
प्रकाशक
शारदा प्रकाशन
16/एफ-3 अंसारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली-110002
विजयदेव झारी द्वारा शारदा प्रकाशन,
नई दिल्ली के लिए प्रकाशित एवं
रूबी प्रिंटिंग सर्विस में मुद्रित.
मूल्य :
पच्चीस रुपए

PUL TOOTATE HUE
(A collection of Hindi Short Stories)
by BADIUZZAMAN

बिटिया

'शेबा'

को

कहानी-क्रम

पुल टूटते हुए

••

मैं चार मील की पदयात्रा से बुरी तरह थक गया था. पथरीला रास्ता वैसे ही थका देने वाला होता है. फिर रास्ते में चढ़ाई ज्यादा थी. बीच-बीच में समतल जमीन का कोई छोटा टुकड़ा मिलता, फिर चढ़ाई शुरू हो जाती. तीन घण्टे में चार मील का फासला तय करके जब मैं गाँव में पहुँचा तो राहत की साँस लेने के साथ ही मुझे महसूस हुआ कि अभी तो तकलीफ की शुरूआत है. मैंने ऊबभरी दृष्टि आसपास के वातावरण पर डाली. पहाड़ों से घिरे हुए इस गाँव में मुश्किल से तीस-पैंतीस घर होंगे. ज्यादातर झोंपड़ियाँ मिट्टी और फूस की बनी हुई थी और मुर्गी के दरबे जैसी लगती थी.

इस गाँव में केवल मुण्डा लोग ही रहते हैं. मुझे दस-पन्द्रह रोज यहाँ रहकर मुण्डा भाषा के स्पेसिमेन एकत्र करने थे. मैं अपने साथ टेपरिकार्डर भी लाया था. विभिन्न वर्गों के अन्तर्गत मुझे बोलचाल को टेप करना था. इसके बाद एक पूर्व-निश्चित योजना के अनुसार इस भाषा की विभिन्न ध्वनियों का विश्लेषण करने का विचार था. साथ ही स्थानीय लोक-कथाओं और लोक-गीतों को टेपरिकार्डर में सुरक्षित करने का कार्य भी मुझे सौंपा गया था.

यह सारा काम कितना मुश्किल और जटिल है, इसका अन्दाजा वही लोग कर सकते हैं जिन्हें भाषा-सर्वेक्षण से कभी वास्ता पड़ा हो. इसमें शक नहीं कि जिन लोगों को भाषा-विज्ञान का चस्का लग चुका है उन्हें इस काम मे अत्यधिक आनन्द मिलता है. दूसरे व्यसनों की तरह इसमें भी व्यक्ति को अपने प्रति आसक्त रखने की बहुत क्षमता है. मेरे एक गुरु, जिनसे मुझे भाषा-विज्ञान में रुचि लेने की प्रेरणा मिली थी, अपने विषय

में इतने तल्लीन थे कि दुनिया की किसी और चीज़ से उन्हें कोई मतलब नहीं था. उन्होंने स्वयं एक बार मुझसे कहा था कि जब उनके जवान बेटे की मृत्यु हो गई और उनकी पत्नी दहाड़ें मारकर रो रही थी तो उनका सारा ध्यान इस बात पर था कि दहाड़ें मारकर रोने की स्थिति में ओठों की गति मे क्या परिवर्तन आ जाता है और इस हालत में ध्वनिगत विशेषताएँ क्या होती हैं. अपने विषय से लगाव की यह चरम अवस्था है जहाँ मेरे गुरु पहुँच चुके थे. ऐसी उन्मत्तता न तो इस समय मुझमें है और न शायद आगे कभी होगी. पर एकाध पेग से मिलने वाला सुरूर मैं ज़रूर अनुभव करता रहा हूँ. यह पहला अवसर था कि कुछ ज्यादा ही पीनी पड़ रही थी और मेरा सिर चकराने लगा था. मुझे अपने गुरु की याद आई जिन्होंने अपनी जवानी हिमालय के दुर्गम वक्ष पर बिखरी हुई जनजातीय भाषाओं के सर्वेक्षण पर लुटा दी थी.

जब मुझे दफ्तर की ओर से इस दूरस्थ स्थान में भाषा-सम्बन्धी क्षेत्रीय कार्य करने का आदेश दिया गया तो यह काम मुझे खासा थ्रिलिंग लगा. शहर के कोलाहल और तनावपूर्ण वातावरण से कुछ दिनों तक अलग रह सकूँगा. दफ्तर की ज़िन्दगी भी कितनी उबाऊ होती है. रोज़ सुबह उठकर दफ्तर पहुँचना, घिसे-पिटे अन्दाज़ मे कागज़ात निपटाना, साथियों से घिसे-पिटे अन्दाज़ मे घिसी-पिटी बातें करना और बॉस के घिसे-पिटे भाषण सुनना. दफ्तर से लौटने पर दिमाग जैसे एकदम खाली हो जाता है. लगता है, खालीपन के अलावा कहीं कुछ है ही नहीं. घर पहुँचिए तो पत्नी अपनी वही पुरानी घिसी पिटी कहानी सुनाने लगती है. मुन्ना पढ़ने में मन नहीं लगाता. महरी आज नहीं आई. इस तरह की अनगिनत शिकायतें लेकर बैठ जाती है. अजीब स्थिति है, सब अपनी सुनाना चाहते हैं. कोई भी आपकी सुनना नहीं चाहता. चलो अच्छा हुआ. कुछ दिनों तक दफ्तर और घर के नीरस वातावरण से मुक्ति मिलेगी! यह सोचकर मुझे बड़ी खुशी हुई थी.

पर कल्पना और वास्तविकता मे जो अन्तर है उसे मैं अब पूरी तीव्रता से महसूस कर रहा था. चार मील की दुष्कर यात्रा ने मेरा सारा

काम करना. यह योजना सफल हो गई तो हमारे विभाग का बहुत नाम होगा और हम सबके लिए तरक्की के दरवाज़े खुल जाएँगे.' इन शब्दों के साथ बॉस ने अपनी आदत के मुताबिक अँग्रेज़ी मे कहा था, 'डू यू फॉलो मी?' मैंने भी अपनी आदत के मुताबिक बॉस के शब्दों की गम्भीरता को अपने लहजे मे समाविष्ट करते हुए कहा था : 'यस सर.' और दिल में उसे मोटी-सी गाली देकर कहा था. 'हम सबके लिए चाहे न खुलें, पर तुम्हारी तरक्की के दरवाज़े जरूर खुल जाएँगे.'

मन में इन शब्दों को कहकर मैं कुछ सहम गया था. कहीं मेरा चेहरा मन मे उठ रहे विचार की चुगली तो नहीं कर रहा है. थोड़े समय में ही मैंने यह गुर मालूम कर लिया था कि नौकरी मे तरक्की करने के लिए चुगली खाना बहुत लाभदायक रहता है. लेकिन मन के भावों की चुगली चेहरा खाने लगे तो समझ लीजिए कि तरक्की के तमाम दरवाजे आप पर बन्द हो चुके है. इसलिए जब कभी जबान पर कुछ और होता है और दिल मे कुछ और (ऐसा अक्सर ही होता है) तो मैं हमेशा अपने चेहरे के बारे में सोचने लगता हूँ कि कहीं वह धोखा तो नहीं दे रहा है. बॉस के शब्दों को सुनकर जब मैं दो हिस्सों मे बँट गया तो मुझे यह देखकर बड़ा इत्मीनान हुआ कि मेरा चेहरा सिर्फ उसी हिस्से को फोकस कर रहा था जो उस समय बॉस के सामने फोकस होना चाहिए था.

लेकिन इस समय मेरा बॉस मौजूद नहीं है. बॉस ही नहीं, इस समय तो ऐसा कोई भी आदमी मौजूद नहीं है जो बॉस से मेरी चुगली कर सके. मैं इस समय उसे चीख-चीखकर गालियाँ भी दूँ तो उस तक नहीं पहुँच सकती. और वास्तव में मैंने ज़ोर से कहा भी—'उल्लू का पट्ठा.' पर दूसरे ही क्षण मुझे अपनी यह हरकत बड़ी बेतुकी लगी. आखिर इस तरह अपने बॉस को पीठ पीछे गालियाँ देने में ऐसी कौन-सी बहादुरी है. उसके मुँह पर कुछ कह सकूँ तो कोई बात है. पीठ पीछे तो लोग बादशाह को भी गालियाँ देते हैं.

हम सब कितने नपुंसक हैं, मैंने सोचा. बॉस के सामने किस तरह घिघियाते रहते हैं. मन मे क्रोध भरा रहता है. मगर बॉस से कुछ कहने का साहस नहीं होता. और बॉस भी कितना मूर्ख होता है कि वह इतनी छोटी-

सी बात नहीं समझ पाता कि उसका मातहत दरअसल उसके सामने रिरिया नहीं रहा है, बल्कि महज दिखावा कर रहा है. या बॉस शायद सब कुछ समझते हुए भी अनजान बने रहना चाहता है. वह खुद भी अपने बॉस के साथ यही सब करता है. इसलिए उसके मातहत को भी उसके साथ यही सब करना चाहिए. मुझे एकाएक मजुमदार का खयाल आता है. उसने इस कृत्रिम घेरे को तोडने का साहसिक प्रयास किया था.

मजुमदार मेरा पड़ोसी है. दफ्तर मे काम करता है. पिछले पच्चीस वर्षों से अपर डिवीजन क्लर्क है. इस अर्से मे उसके बहुत से साथी अण्डर सेक्रेटरी या सेक्सन ऑफिसर बन चुके हैं वह वहीं है जहाँ पच्चीस वर्ष पहले था. उसने जो दुस्साहस लिया था उसकी कीमत वह अब तक चुका रहा है. जाने कब तक चुकाता रहेगा. आश्चर्य होता है, आज मैं उसके बारे मे बदले हुए ढँग से सोच रहा हूं. वह मुझे सदा ही बड़ा मूर्ख लगा है. उसका चेहरा वास्तव मे बहुत दयनीय है. उसे देखते ही मन वैराग्य-भाव से भरने लगता है. और वैराग्य मे या वैराग्य उत्पन्न करने वाली हर चीज से मुझे सख्त चिढ़ है. इसीलिए उससे ज्यादा वास्ता मैंने कभी नहीं रखा पडोसी होने या शिष्टाचार के नाते जो सम्बन्ध आवश्यक हो सकता है, उससे अधिक मेलजोल बढाने की कोशिश मैंने कभी नहीं की. मुझे यही लगा कि इससे घनिष्ठता हो गई तो इसकी दयनीयता अनजाने ही मुझमें आ जाएगी. पहली ही मुलाकात मे मैंने यह सब महसूस कर लिया था. उसकी शक्ल-सूरत ही ऐसी है. बड़ा ही मनहूस चेहरा है उसका. देखते ही मन मे विचार उठता है कि इस शख्स को दुनिया भर से शिकायतें होंगी. और क्षण बाद ही खुद मजुमदार अपनी बात से साबित कर देगा कि उसके बारे मे आपका अनुमान शत-प्रतिशत सही है. किसी विषय पर बात करेगा तो लगेगा कि केवल बुरे पक्ष पर ही उसकी दृष्टि गई है.

जब वह ठेले पर सामान लादकर पड़ोस के फ्लैट में आया था तो पड़ोसी होने के नाते मैंने मुस्कराते हुए उसका अभिवादन किया लेकिन मेरे अभिवादन के उत्तर में उसने सिर्फ अपना सिर हिला दि.

—

मुझे हतोत्साह होकर अपने फ्लैट में घुस जाना चाहिए था. लेकिन मैं पड़ोसी का कर्तव्य निभाने में पीछे रहना नहीं चाहता था. इसलिए मैंने पूछा : 'आप किस दफ्तर में काम करते हैं?' उसने दफ्तर का नाम बता दिया. पर उसका स्वर इतना ठण्डा था कि मुझे क्षण-भर को सोचना पड़ा कि बात-चीत आगे बढ़ाई जा सकती भी है या नहीं. कुछ देर चुप रहने के बाद मैंने उससे एक मूर्खतापूर्ण सवाल कर दिया. 'आप किस पोस्ट पर काम करते हैं?' बस वह भड़क उठा. मैंने प्रश्न बड़ी सहजता से किया था और किसी असाधारण प्रक्रिया के लिए मैं बिलकुल तैयार नहीं था. इस लिए मजूमदार का सर्द लहजा सहसा क्रोध में बदल गया तो मैं अवाक् रह गया 'आपको क्या मतलब?' उसने मुझे घूरकर देखते हुए कहा. मैंने यह मूर्खता जरूर की थी कि पहली मुलाकात मे ही उससे इतना निजी सवाल कर बैठा था. वह इस तरह भड़क उठेगा, यह आशा मैंने नहीं की थी. मैं खिसिया कर अपने फ्लैट में आ गया था और पत्नी से, जो खिड़की से अपने नये पड़ोसी को देख रही थी. बोला था, बड़ा ही बदतमीज आदमी है.'

दरअसल बात यह थी कि अनजाने ही मैंने मजूमदार की दुखती रग छू ली थी. हर आदमी की कोई न कोई दुखती रग होती है जिसे छू लेने से बड़ा अनर्थ हो सकता है. सम्बन्ध के बने रहने मे इस दुखती रग को न छूने का बड़ा महत्त्व है. अच्छा तो यही है कि इसे छेड़ा ही न जाए. अगर इसे छेड़ना आवश्यक ही हो तो आपकी सदाशयता सदेह से परे होनी चाहिए. मजूमदार को मेरे सवाल मे व्यंग्य का आभास हुआ था और इसी कारण उसे क्रोध आ गया था. यह बात तो मुझे बाद में मालूम हुई कि वह पिछले पच्चीस वर्षों से अपर डिवीजन क्लर्क है और उसका प्रोमोशन नहीं हो सका है. वह देश की आजादी के पहले ही सरकारी नौकरी में आ गया. उसके बहुत से साथी इस अर्से मे तरक्की करके ऊँचे ओहदो पर पहुँच गए थे.

मजूमदार ने अपनी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति की कहानी स्वयं सुनाई थी. 'इस बात को अठारह वर्ष हो गए. मुझे खुद आश्चर्य होता है, मुझमें इतना साहस आ कहाँ से आ गया था. मैं बहुत भीरु और डरपोक आदमी रहा हूँ जैसा कि दफ्तर में आमतौर पर लोग होते हैं. अफसर की झिड़कियाँ

बरदाश्त करने का मैं भी आदी था. लेकिन उस रोज बात झिड़की से बहुत आगे बढ़ चुकी थी. बॉस ने एक पत्र का ड्राफ्ट तुरन्त मांगा था. ड्राफ्ट जल्दी-जल्दी तैयार किया. संदर्भ की गलती रह गई. बॉस ने पकड़ ली. कहने लगा, 'तुम्हारा काम बहुत खराब है.' मैं पी गया. फिर कहने लगा, 'यू आर ए डैमफूल.' मैं इसे भी पी गया. फिर फाइल मेरे मुँह पर फेंककर बोला, 'बास्टर्ड.' मेरी माँ बचपन से ही मर गई थी. मुझे उसकी शक्ल-सूरत बिलकुल याद नहीं रही. लेकिन बॉस के मुँह से 'बास्टर्ड' शब्द सुनना था कि एक औरत मेरे सामने नग्नावस्था में आ खड़ी हुई. मैंने साफ पहचान लिया था. किसी शक-सुबहे की गुंजाइश नहीं थी. यही तो मेरी माँ थी जिसे मेरी आँखों के सामने नंगा कर दिया गया था. माँ की आँखों में एक अजीब भर्त्सना थी. जिसे मैं सहन नहीं कर सकता था. मैंने मेज पर से पेपरवेट उठाकर बॉस के सिर पर दे मारा.'

मजुमदार की बातें भावुकता में तरबतर रहती हैं. वह शायद समझता है कि उसका यह अन्दाज सुनने वाले पर बहुत अच्छा असर छोड़ता है. हालांकि मुझ पर कभी कोई ऐसा असर नहीं हुआ. मुझे वह हमेशा ही बेहद मूर्ख लगा. उसकी भावुकता उसे घुन की तरह खा रही है और वह इतनी सीधी-सादी बात भी नहीं समझ पाता. उसे जैसे इस बात का पता ही नहीं है कि लोग दूसरों की दुख-भरी कहानियों में केवल रस ही ले सकते हैं, चाहे ऊपर से सहानुभूति का दिखावा ही करें. मजुमदार की भावुकता सचमुच लोगों के लिए मनोरंजन का एक साधन है. इससे उसे कोई लाभ नहीं होता. जब वह अपनी कहानी भावुकता में डूबे लहजे में सुनाने लगता है तो वह मुझे भी किसी नाटक के मसखरे जैसा लगता है. मैं कभी भी यह नहीं सोच सका कि उसने वास्तव में कोई साहसिक कार्य किया है, कोई ऐसा कार्य जिसके कारण उसे हीरो माना जा सके. उसने जो कुछ किया उसमें मुझे इतनी गरिमा भी दिखाई नहीं दी जो डान कुइक्जोट के कारनामों में देखी जा सकती है. मैं जल्दी ही उसकी बातों से ऊबने लगा था. उसे दुनिया में किसी और चीज में दिलचस्पी ही नहीं थी. अफसरों की शिकायतें, दफ्तरी भ्रष्टाचार और अपनी पीड़ा की कहानी. इसी तंग दायरे में उसकी बातचीत चलती थी. ऐसे व्यक्ति से

आदमी ऊबेगा नहीं तो और क्या करेगा.

लेकिन इस समय जब मैंने अफसर को पीठ पीछे और दफ्तर से सैकड़ों मील की दूरी पर 'उल्लू का पट्ठा' कहा तो अनायास ही मुझे मजुमदार के एक नए रूप का आभास हुआ. क्षणावेश में ही सही, उसने कुछ ऐसा जरूर किया था जो साहसिक और असामान्य था, जो कम-से-कम मैं नहीं कर सकता था. जाने क्यों मैं आज मजुमदार से अपनी तुलना करने को उतारू था. मैंने पहले कभी उसे इस योग्य नहीं माना. उसे कभी इतना महत्त्व नहीं दिया कि उसे अपनी बराबरी में रखकर सोच सकूँ. मुझे कभी-कभी उस पर दया अवश्य आती थी जैसा कि हर दयनीय व्यक्ति पर कभी-कभार आती ही है लेकिन दया करना और बात है. दया करने वाला व्यक्ति सदा ही किसी ऊँचे आसन पर बैठा होता है जहाँ से वह नीचे बैठे किसी दुर्दशाग्रस्त व्यक्ति पर दया की दृष्टि डालता है. दोनों में समानता का प्रश्न ही नहीं उठता. पर इस समय जो प्रश्न मेरे मन में रह-रहकर उठ रहा है वह यह है कि अगर मेरे बॉस ने मुझे 'बास्टर्ड' कहा होता तो मेरी प्रतिक्रिया क्या होती. क्या मैं उसके सिर पर 'पेपरवेट' मार सकता था या किसी और तरीके से इस अपमान का बदला ले सकता था. सौभाग्य से मुझे अब तक ऐसी स्थिति का सामना नहीं करना पड़ा है. लेकिन मैं साफ महसूस कर रहा हूँ कि ऐसी स्थिति आने पर मेरा आचरण मजुमदार से भिन्न होता. ऐसे काम का क्या लाभ जिस पर जीवन भर पछताना पड़े. बॉस की गालियों का भी कोई खयाल करता है. इस कान से सुनो उस कान से उड़ा दो. कोई चाहे जबान से यह सब न कहे पर दिल में सब यही सोचते हैं.

बसन्त सचमुच बड़े काम का आदमी है. चौड़ा-चकला फौलादी शरीर जैसे चारों तरफ फैली हुई स्याह पहाड़ियों की किसी चट्टान को तराशकर बनाया गया हो. परन्तु चेहरे पर एक नर्म, कोमल मुस्कराहट की चमक हमेशा तैरती रहती है. मुण्डा भाषा का मुझे थोड़ा-सा किताबी ज्ञान है. यह ज्ञान इतना कम है कि मुण्डा लोगों से उनकी भाषा में बातचीत भी नहीं कर

सकता. बसंत टूटी-फूटी हिन्दी बोल लेता है. मुण्डा भाषा का कोई शब्द या वाक्य समझने में कठिनाई होती है तो वह अपनी टूटी-फूटी हिन्दी में समझा देता है. उसके कारण गाँव के लोगों से सम्पर्क स्थापित करने में भी बड़ी सुविधा होती है. उसकी सहायता के बिना शायद इन लोगों से बात-चीत करना भी सम्भव नहीं होता. एक-दो रोज के अन्दर सारा वातावरण बहुत अच्छा लगने लगा है. महानगर के कोलाहल और तनाव-भरे माहौल से निकलकर इस शांत वातावरण में एक राहत-सी महसूस होती है. दिन-भर के कठोर परिश्रम के बाद स्त्री-पुरुष जब घेरा बनाकर अपना नृत्य शुरू करते हैं और मृदंग, झाल और ढोल की आवाजों के साथ उनके गीत फिजा में बिखरते हैं तो लगता है कि समय अपनी सीमाओं से मुक्त हो गया है. दृष्टि-सीमा तक फैले हुए गहन अँधकार को चीरकर आती हुई आवाज जैसे किसी अप्रतिरोध्य आह्वान का रूप लेकर मन की गहराइयों में उतर जाती है, सब कुछ जैसे निस्सार-सा लगने लगता है इस आवाज के सामने.

रात के नौ बजे हैं. यह बात हाथ में बँधी हुई घड़ी से मालूम होती है. यहाँ समय घण्टों और मिनटों में बँटा हुआ नहीं है. सूर्योदय से सूर्यास्त तक कठोर शारीरिक परिश्रम. फिर नृत्य और संगीत का लंबा क्रम. मुंडा स्त्री और पुरुष पूरी तन्मयता से नाच रहे हैं और गा रहे हैं—

'आमुं हिड़ा, आमु हिड़ा किता चिरेम गालाङ् ताना,
किता गालाङ् बागे-तम, सुसुन आलाङ्.'

(मैं भी अविवाहित हूँ, तुम भी अविवाहित हो. तुम चटाई क्यों बुन रही हो ? तुम चटाई बुनना छोड़ दो. आओ हम लोग मिलकर नाचें.)

'कोंदयों तायोमेर
तायोमेर बात्—ते ओरेन तान लेका
कोंदयों तायोमेर.'

(मैं सबसे पीछे रहकर नहीं नाचूंगी. मुझे लगता है, मानो मैं बलात् खिंच रही हूँ. इसलिए मैं पीछे रहकर नहीं नाचूंगी.)

गीत में कोई गूढ अर्थ नहीं है; मुण्डा लोगों की तरह ही उनके गीतों के भाव भी बहुत सरल और सीधे-सादे होते हैं. पर गीत की स्वर योजना बड़ी चमत्कारिक है. इस गीत को मैं टेप कर चुका हूँ. बसंत की सहायता से इसका अर्थ भी जान गया हूँ. लेकिन अर्थ न जानता तो भी गीत के प्रभाव मे कोई कमी न होती. लगता है यह गीत बहुत पुराना है, सैकड़ों-हजारों साल पुराना. समय ने इस पर अपना दूषित प्रभाव नही डाला. इसका आदिम स्वरूप ज्यों-का-त्यों सुरक्षित है. जाने कितनी बार यह गीत सुन चुका हूँ. पर उसकी ताजगी बनी हुई है. जब कभी सुनता हूँ तो यही महसूस होता है जैसे आत्मा से मैल की परतें एक-एक करके उतरती जा रही हैं. जब भी कोई मुण्डा गीत सुनता हूँ तो ऐसा ही महसूस होता है. लगता है, समय की सीमाएँ सिकुड़ गई हैं; सदियों की लक्ष्य-विहीन, निरर्थक यात्रा का बोझ मैंने सिर से उतार फेंका है और मैं फिर उसी बिन्दु पर पहुँच गया हूँ जहाँ से मैंने यात्रा आरम्भ की थी और जो दरअसल मेरी मंजिल है.

आयुं डिडा आयु डिडा······

गीत पूरे वेग से और पूरी तन्मयता से गाया जा रहा है. मैं अनायास ही उठ खड़ा होता हूँ और बाहर की तरफ भागने लगता हूँ. एकाएक मेरे कदम रुक जाते हैं. मैं जैसे अब तक विस्मृति की अवस्था में था. ऐसा पहले भी हो चुका है. मुण्डा गीतों से अभिभूत होकर जब भी नृत्य-स्थल पर पहुँचा हूँ मैंने स्वयं को अपराधी-सा महसूस किया है. मुझे देखते ही सब गाना-नाचना बन्द कर देते हैं. वे इस तरह बिखर जाते हैं मानो कोई बला आ गई है.

मैं कोठरी में आकर तख्त पर लेट जाता हूँ लालटेन की मद्धिम रोशनी मे भी दीवार पर बनी हुई शेर और चीते की आकृतियाँ दिखाई दे रही हैं. इन हिंस्र पशुओ से अपनी रक्षा करने के लिए मनुष्य ने कितने यत्न किये. शेर और चीते का डर उसके मन में से अब निकल चुका है. लेकिन जाने और कितने भय उसे आक्रांत करते रहते हैं. गीत अब भी पूरे वेग से चल रहा है. लेकिन मेरे लिए अब जैसे उनमें कोई आकर्षण नही रहा. दफ्तर मेरे दिमाग पर हावी होने लगा है. जाने वहाँ क्या हो रहा होगा मेरे

खिलाफ जाने कितने षड्यन्त्र रचे जा रहे होंगे. यह एहसास दफ्तर में रहते हुए भी होता है. पर जब कभी बाहर जाता हूं और दफ्तर के बारे में सोचता हूँ तो यह एहसास और भी शदीद हो जाता है. इस मन:स्थति से छुटकारा पाने के लिए मन को तरह-तरह से समझाना पडता है. तब कही इस एहसास की शिद्दत कुछ कम होती है.

मुझे यहाँ आए दस दिन हो चुके हैं. अब मुझे जल्दी लौट जाना चाहिए. चाहूँ तो कुछ दिन और रुक सकता हूँ. लेकिन अब और रुकना मुझे अनावश्यक लगता है. इस एहसास के साथ ही सारा वातावरण मुझे उबाऊ नजर आने लगता है. कल ही पत्नी की चिट्ठी मिली है. जल्दी ही लौट आने को लिखा है. बच्चे की तबियत ठीक नहीं है. तन्हाई से घबरा गयी है. वही घिसी-पिटी बातें जो आमतौर पर हर पत्नी अपने पति को लिखती है. एक जुमला मजुमदार के बारे में भी है. उसे हार्ट अटैक हुआ है.

तो उसे फिर दिल का दौरा पड़ा है. मैं मजुमदार के बारे में सोचने लगता हूँ. पहले भी उसे हार्ट अटैक हो चुका है. मरते-मरते बचा था. उसका दयनीय चेहरा मेरी निगाहों में घूम जाता है. पर हमदर्दी का हल्का-सा एहसास भी मन में नहीं उभरता. अजीब खीझ-सी होती है उसके बारे में सोचकर. प्रोमोशन के लिए मरा जाता है. बड़ा सूरमा बनना चाहता था. बॉस से लड़ने चला था. बॉस से लड़ने के लिए कलेजा चाहिए. भावावेश में पेपरवेट दे मारना और बात है और प्रतिकूल स्थितियों से निरंतर जमकर लड़ते रहना और बात. वह जरूर मन में आत्मग्लानि अनुभव करता होगा. ऊपर से विद्रोही का मुखौटा ओढ़ रखा है. लगता है, इस बार भी प्रोमोशन नही हो सका. पिछली बार भी ऐसा ही हुआ था. स्वाभिमान, आत्मसम्मान—बातें तो बड़ी लम्बी-चौड़ी करता है. लेकिन अन्दर से शायद खुद भी समझता है कि उसकी ये बातें कितनी खोखली हैं. हर बात के नियम-कायदे होते हैं. नौकरी के भी कुछ नियम-कायदे हैं. बॉस से लड़कर कोई चैन से नही रह सकता. मजुमदार भी इसे समझता है. लेकिन एक बार भावावेश में आकर वह जो कुछ कर बैठा उसका नतीजा तो उसे भुगतना ही पड़ेगा. उसकी जो मनोवृत्ति बन गई है उसको देखते हुए कोई बॉस उससे खुश नही रह सकता. जाने वह बचेगा भी या नही

हो सकता है,यह मर चुका हो और उसका शरीर जलकर राख हो गया हो.

लालटेन की मटियाली रोशनी में शेर और चीते की आकृतियां बड़ी डरावनी लग रही हैं. शायद मजुमदार की मौत की कल्पना ने इन आकृतियों को भयावह बना दिया है या शायद मेरे मन में ही छिपा हुआ कोई डर है जिसने इन्हें इतना डरावना बना दिया है. यह कैसा भय है? क्या यह भय मजुमदार की मौत के खयाल से पैदा हुआ है या यह भय पहले से ही मन में मौजूद था. मजुमदार की मृत्यु के एहसास ने उसे कुछ उभार दिया है, उसमें कुछ तीव्रता भर दी है. यह अजीब डर है जो साए की तरह मुझसे चिपका रहता है. अच्छी-खासी नौकरी से लगा हूं. देखा जाए तो मेरी स्थिति काफी संतोषजनक है. हजारों-लाखों से अच्छा खाता हूं, अच्छा पहनता हूं. फिर भी एक विचित्र-सा, अस्पष्ट-सा भय मन को सालता रहता है. जाने कब क्या हो जाए? हालांकि मैं जानता हूं कभी कुछ नहीं होगा. कम-से-कम वैसा कुछ नहीं होगा जैसा मजुमदार के साथ हुआ है.

गीत की आवाज अब नहीं आ रही है. मैं घड़ी देखता हूं. ग्यारह बजकर दस मिनट हुए हैं. सचमुच अब लौट जाना चाहिए. यहां का काम पूरा हो चुका है. और अधिक रुकने की आवश्यकता भी क्या है. कल चला जाऊंगा, मैं दिल में फैसला कर लेता हूं. बाहर कदमों की चाप सुनाई देती है. बसंत होगा. रोज मुझे खाना खिलाकर नाचने-गाने चला जाता है और इसी समय लौटता है. सचमुच बड़ा ही हंसमुख और मिलनसार है. इतने दिनों तक उसने जिस तरह मेरी सेवा की शायद कोई और न कर सकता. उसकी वजह से ही इस अनजानी परायी जगह में मुझे कोई तकलीफ नहीं हुई. वह न होता तो न-जाने कितनी मुसीबतों का सामना करना पड़ता. वह जब सुनेगा कि मैं जा रहा हूं तो बहुत दुखी हो जाएगा. उसे रोज सात रुपये जो देता हूं. कल के बाद से यह रकम मिलनी बंद हो जाएगी. फिर जाने कब कोई काम-धंधा मिले.

बसंत बांसुरी बजाने में बहुत माहिर है. जादू-सा कर देता है सुनने-वालों पर. मैंने इतनी अच्छी बांसुरी बजाते किसी और को नहीं देखा. 'तुम तो छैला सांदु हो. वह भी तुमसे अच्छी बांसुरी क्या बजाता होगा.'

मैं उससे अक्सर कहा करता हूं.

वह हंसकर कहता है, 'आपको क्या मालूम छैला सांदु कैसी रुतु (बांसुरी) बजाता था. उसका मुकाबला मैं क्या कर सकता हूं.'

बसंत ने छैला सांदु को नहीं देखा. उसने भी उसके किस्से ही सुने हैं. जाने छैला सांदु कब रहा होगा. सैकड़ों वर्ष बीत गए. मुण्डा युवकों में एक-से-एक बांसुरीवादक हैं. पर छैला सादु के सामने सभी अपने को तुच्छ समझते हैं. बसंत से ही मैंने छैला सांदु की कहानियां सुनी हैं. बड़ा ही सुन्दर और साहसिक युवक था. बांसुरी बजाने में दूर-दूर तक उसका सानी नहीं था. वह घण्टों बांसुरी बजाता रहता और लोग विमुग्ध होकर सुनते रहते. हर समय गांव के युवक-युवतियां उसे घेरे रहते, प्रत्येक युवती उसे अपना पति बनाने को लालायित रहती. पर छैला सांदु को तो सिर्फ अपनी बांसुरी से लगाव था. वही जैसे उसकी प्रेयसी थी. गांव की लड़कियों की ओर देखने तक की उसे फुरसत नहीं थी. बांसुरी बजाने में दूर-दूर तक उसकी धाक जमी हुई थी. नदी के उस पार हर साल मेला लगता है. छैला सांदु के जमाने में भी मेला लगता था. दूर-दूर से बांसुरीवादक अपनी कला का प्रदर्शन करने आते थे. छैला सांदु भी जाता था. उसके सामने सबके रंग फीके पड़ जाते थे. बसत कहता है, 'मेला अब भी लगता है . बांसुरीवादक आज भी वहां इकट्ठे होते हैं. पर छैला सांदु जैसा बांसुरीवादक अब वहां कभी नहीं आएगा.' छैला सांदु की कला ही उसके विनाश का कारण बन गई. सब मन-ही-मन उससे जलते थे, उसे अपने रास्ते से हटाना चाहते थे.

उस साल भी नदी के उस पार मेला लगा था. एक-से-एक बांसुरीवादक छैला सादु से लोहा लेने को इकट्ठे हुए थे. पर अन्दर से सभी त्रस्त थे. छैला सांदु को कौन हरा सकता है ? उस साल नदी में बहुत बाढ़ आई हुई थी. नदी के एक छोर से दूसरे छोर तक रस्सी का पुल तान दिया गया था. सारा गांव मेले में पहले ही पहुंच चुका था. सबसे आखिर में छैला सांदु को पहुंचना था. दूसरे तट पर लोगों की भीड़ उसे रस्सी के पुल पर चलते देखने को इकट्ठी हो गयी थी. और तब एकाएक ठीक उस समय जब वह आधी नदी पार कर चुका था किसी ने रस्सी का पुल काट दिया. नदी की वेगमयी तरंगों ने छैला सांदु को निगल लिया.

बसत के कदमों की चाप अब बहुत पास आ गई है. दरवाज़े में उसकी स्याह आकृति क्षण-भर के लिए किसी आदमकद तसवीर का आभास देकर हट जाती है.

वसंत से कुछ कहते हुए मुझे संकोच होता है. बेचारा दुखी हो जाएगा. कल से वह बेकार हो जाएगा. यह सब सोचकर उससे कुछ कहने की हिम्मत नहीं हो रही है. पर कुछ क्षणों के बाद ही मुझे अपना संकोच निरर्थक लगता है. वसत से मेरी क्या घनिष्ठता है. क्या रिश्ता है. चंद दिनों का सांयोगिक सम्बन्ध ही तो है. मैं व्यर्थ ही उसके बारे में यह सोचकर परेशान हो रहा हूँ.

'बसंत ! मैं कल चला जाऊँगा.' मैं रुक-रुककर थोड़ा झिझकते हुए कहता हूँ,और उसके चेहरे का जायजा भी लेता रहता हूँ. मेरी आशंकाएँ बिलकुल निराधार साबित हो रही हैं. वसंत के चेहरे पर कोई भाव नहीं है. न दुःख का, न खुशी का. उसके होंठों पर वही स्निग्ध मुस्कान अब भी दिखाई दे रही है जो हर समय दिखाई देती रहती है.

बसंत मेरा सामान सिर पर उठाए आगे-आगे चल रहा है. खेतों में काम करते मुण्डा स्त्री और पुरुष मुझे एक नजर देखते हैं, फिर अपने काम मे लग जाते हैं. शुरू में जिस तरह कौतूहल-भरी दृष्टि से वह वे मुझे देखते थे उस तरह अब नही देखते. मुझे लगता है, वे मन-ही-मन एक तरह की राहत महसूस कर रहे हैं. मैं अब उनके नृत्य-गायन में कोई विघ्न नहीं डाल सकूँगा. उनके स्वच्छन्द जीवन मे जैसे मेरे कारण कोई बाधा आ गई थी जो अब नही रहेगी. चारों तरफ बड़ी चमकीली धूप फैली है. मुंडा स्त्रियों की अधखुली, पत्थरों की सख्ती का आभास देती हुई छातियों को देखकर मुझे अपनी पत्नी की रुई की तरह नर्म छातियो का खयाल आ जाता और मैं मन में एक लिजलिजापन-सा महसूस करने लगता हूँ. मुझे लगता है, ये छातियाँ मुझे अन्दर से कुरेद रही हैं. मेरे अन्दर बहुत गहराई में कुछ दबा हुआ है जिसे ये बाहर लाना चाहती हैं. क्षणभर के लिए मुझे महसूस होता है कि मैंने अपने ऊपर से कोई बड़ा बोझ उतार फेंका है. पर दूसरे

ही क्षण लगता है, वह मेरा भ्रममात्र था. मैं अपने बोझ से कभी मुक्त नहीं हो सकता.

गांव बहुत पीछे छूट गया है. हम दोनो अब पुल से गुजर रहे हैं. पुल को पार करने के बाद ही वह सड़क आ जाएगी जहां से शहर के लिए बस मिल सकेगी. मैं सोचता हूं, शायद रस्सी का वह पुल भी यहीं पर रहा होगा. यहीं पर छैला सांदु ने अपनी जान दी होगी. एकाएक मुझे मजुमदार का खयाल आता है. दिल्ली के किसी अस्पताल में पड़ा एड़ियां रगड़-रगड़कर जान दे रहा होगा या शायद मर चुका हो. मैं सिहर उठता हूं. मुझे लगता है, कुछ ऐसे पुल भी होते हैं जो आंखों से देखे नहीं जा सकते, जो छैला सांदु के रस्सी के पुल की तरह अकस्मात् नहीं टूटते, जो धीरे-धीरे टूटते रहते हैं और हमारा मन निरन्तर दहशत से भरा रहता है. मैं, मजुमदार और बहुत सारे लोग शायद जीवन-भर ऐसे ही किसी पुल पर चलते रहते हैं.



शेड

●●

पलकें आँखों पर अब तक बोझ बनी हुई हैं. अधखुली आँखों में अनगिनत काँटों की चुभन का एहसास होता है. बड़ी मुश्किल से आँखें खोलता हूँ, नमक की तेजी और तीखापन लिए हुए धूप कमरे मे घुस आई है. दोनों हाथों से आँखों को मलता हुआ मैं उठ बैठता हूँ. तकिये के नीचे से घड़ी निकालकर देखता हूँ. साढ़े नौ बजे हैं. पूरे नौ घण्टे सोता रहा हूँ, लेकिन आँखों में नीद की कसक अभी तक बाकी है. यात्रा की थकान शरीर से अभी तक मिटी नही है. अठारह घण्टे की लम्बी यात्रा की तल्खी इतनी देर तक सो लेने के बाद भी खत्म नही हुई है. सामने की खिड़की खुली है जिससे दुल्हन ममानी के घर की मुंडेर नजर आ रही है. वर्षों से सफेदी न होने के कारण मुन्डेर की जालियाँ बदरंग हो गई हैं. जगह-जगह काई जम गई है और पलस्तर उखड़ जाने की वजह से ईंट का कत्थई रंग उभर आया है. मुंडेर से परे मस्जिद के सफेद गुँबद पर एक चील उड़ने के लिए पर तोल रही है. देखते-ही-देखते उसके डैने फैलते हैं और वह आकाश में तैरने लगती है. चील दृष्टि से ओझल हो जाती है और मैं फिर दुल्हन ममानी के घर की मुंडेर को देखने लगता हूँ. एक दो तीन चार पाँच छह सात आठ···एकाएक मुझे अपनी मूर्खता का एहसास होता है. बचपन की आदत. यूँ ही निरुद्देश्य भाव से मुंडेर की जालियाँ गिनते रहना. तमाम जालियों को गिनकर चार से भाग करना. चार से भाग न होने पर एक अपूर्णता का एहसास होता. फिर पीछे से गिनना शुरू करता और जब उस संख्या पर पहुँच जाता जहाँ चार से भाग देना सम्भव होता तो एक तरह की पूर्णता का आभास होता, अजीब बेतुकी आदत थी. अब प्रायः ऐसा नहो करता. लेकिन कभी-कभी यह पुरानी आदत अनजाने लौट आती है. मुंडेर

की इन जालियों को गिनना अब उतना आसान नहीं रहा. बहुत-सी जालियाँ टूट चुकी हैं और जमी हुई काई और झाँकती हुई ईंटों के कारण जालियों को एक-दूसरे से अलग करना कठिन हो गया है. सब आपस में गड्डमड्ड-सी हो गई हैं.

सहसा जाने कितने लम्बे फासले को पार करती हुई सीटी की आवाज मेरे कानों में पहुँचती है. मुंडेर की जालियाँ चमक उठती हैं. स्वस्थ फूल की तरह खिला हुआ चेहरा. देखते-ही-देखते यह चेहरा भी लुप्त हो जाता है. अब रह गया है कुम्हलाए हुए फूल जैसा सूखा, बीमार चेहरा. फिर यह भी नहीं रहता. सब कुछ पीछे छूट गया है. मैं खिड़की के पास आ जाता हूँ और नीचे झाँकता हूँ. गली के उस छोर पर नल के पास घड़े और बाल्टियों की एक लम्बी कतार है. नल में पानी नहीं आ रहा है. औरतें अपने घड़े और बाल्टियाँ पहले से ही रख जाती हैं. जब नल में पानी आता है तो उस पर टूट पड़ती हैं और फिर वह धमाचौकड़ी मचती है कि बस. लेकिन इस समय एकदम सन्नाटा है. गली में कहीं-कहीं पर छोटे-छोटे गढ़े खोद लिए हैं लड़कों ने अण्टा खेलने के लिए. अन्नू के साथ अण्टा खेलने के लिए मैं भी गढ़े खोद लेता था. इस खेल के पीछे कैसे पागल से रहते थे हम दोनों. जेठ की दुपहरी में भी जब लू के गर्म थपेड़े शरीर को झुलसा देते थे तब भी हम दोनों अण्टा खेलने का मोह नहीं छोड़ पाते थे.

याद आता है, अन्नू ने एक बार कहा था, 'मैं तो दारोगा बनूँगा.' मैं उसकी बात सुनकर जल-भुन गया था. गोरा-चिट्टा रंग. स्वस्थ शरीर. लम्बा कद. मेरी उम्र का होते हुए भी वह मुझसे बड़ा दिखाई देता था. उन दिनों दारोगा हम लोगों के लिए बहुत बड़ी तोप होता था. सब लोग उसे देख कर डर से काँप उठते थे. अन्नू सचमुच दारोगा बन सकता है. अपने मरियल, दुबले-पतले शरीर पर मुझे बहुत क्रोध आया था. मैं जानता था कि इस मरियल शरीर के साथ मैं कभी दारोगा नहीं बन सकता. लेकिन मैं अन्नू के सामने हार मानने को किसी तरह तैयार नहीं था. मैंने कहा था, ' दारोगा बनूँगा." अन्नू ने जोरदार ठहाका लगाया था. "तू और

बनेगा! अपनी शक्ल देखी है कभी आईने में !" जी चाहा था अन्नू का मुँह नोच लूँ. लेकिन वह मुझसे कहीं तगड़ा था. जब कभी झगड़ा होता मैं ही पिटता था. झगड़े के बाद कई-कई दिन तक हम दोनों मे बातचीत न होती. फिर धीरे-धीरे झगड़े की याद मिटने लगती थी और हम दोनों फिर साथ खेलने लगते. लेकिन अन्नू के लिए मन में ईर्ष्या हमेशा बनी रहती. यह आग अन्दर ही अन्दर सुलगती रहती थी. हीनता की भावना हमेशा मुझे जकड़े रहती. ईर्ष्या का कारण अन्नू का लम्बा-चौड़ा स्वस्थ शरीर ही नहीं था. और भी कई बातें थी जिनको लेकर मैं उससे जलता था.

अन्नू के अब्बा रोज शाम को जब बगल में कागज़ात दबाए कचहरी से लौटते तो उनके हाथ मे मिठाई की एक हांडी जरूर होती. आए दिन उसके लिए नए कपड़े सिलते, रंग-बिरंगे खिलौने आते, अन्नू के अब्बा और अम्मा उसे बहुत चाहते थे. इकलौता बेटा होने की वजह से उसका लाड़-प्यार बहुत होता था. उसके अब्बा कचहरी में पेशकार थे. तनख्वाह के अलावा रोज दस-बीस ऊपर से मिल जाते थे. अब्बा की बँधी-बँधाई आमदनी थी. ऊपर से कुछ मिलने का सवाल ही नहीं था. स्कूल के टीचर को कौन रिश्वत देता है. ट्यूशन से जरूर कुछ आमदनी हो जाती थी. लेकिन यह आमदनी बहुत अनियमित थी. ज्यादातर लड़के तो मुफ्त में ही पढ़ लिया करते थे. घर मे पैसे की तंगी हमेशा रहती थी. सिल्क की कमीज और बढ़िया लट्ठे का पाजामा मुझे कहाँ पहनने को मिल सकता था. और अन्नू के पास ऐसे कपड़ो की इफरात थी.

अम्मा और दुल्हन ममानी में भी अक्सर झगड़े होते रहते थे, अक्सर इन दोनों के झगड़े का कारण हम दोनो ही होते थे. और कई बातों को लेकर दोनों अक्सर झगड़ती रहती. दोनों एक दूसरे को ऐसे-ऐसे कोसने और ऐसी-ऐसी बददुआएँ देती कि मुझे और अन्नू को भी बड़ा आश्चर्य होता था. आखिर वह मेरी जान की दुश्मन क्यों हो गई हैं. उनके लिए मन में हमेशा ही तीव्र घृणा महसूस करता आया हूँ. इतना समय बीत जाने के बाद भी यह घृणा ज्यों-की-त्यों बनी हुई है. मन-ही-मन उन्हें 'चुड़ैल',

'हरामजादी', 'डायन' और जाने क्या-क्या कहा करता था. शायद अन्नू भी अम्मा के लिए ऐसा ही महसूस करता होगा.

स्मृतियां किस तरह आपस में उलझ गई हैं. हां उस रोज अन्नू ने मेरी नाक पर कितने जोर से मुक्का मारा था. मैं नाक सहलाते हुए सोचता हूं. नाक से खून की धारा फूट निकली थी और मैं बेहोश हो गया था. कई हफ्तों तक हम दोनों ने एक-दूसरे से बात नहीं की थी. फिर धीरे-धीरे हम दोनों सब-कुछ भूल गए थे और साथ खेलने लगे थे. हम दोनों साथ-साथ स्कूल में दाखिल हुए थे. पढ़ाई में भी अन्नू मुझसे आगे ही रहता था. खेल-कूद में भी वह मुझसे कहीं आगे था. फुटबाल और हॉकी में शायद ही कोई उसकी बराबरी कर सकता. उस रोज अन्नू क्लास की फुटबाल टीम का कैप्टेन चुना गया था और मुझे सिरे से टीम में ही नहीं लिया गया था तो जलन और ईर्ष्या से मेरी कैसी हालत हो गई थी. मेरा बस चलता तो उसे कच्चा चबा जाता और मैच के दिन जब टांग में घाव होने के कारण अन्नू अच्छा नहीं खेल सका था तो मुझे कितनी खुशी हुई थी. बहुत सारे लड़कों के साथ जो मेरी तरह ही उससे जलते थे, मैंने भी उस पर खूब फब्तियां कसी थीं. अन्नू उस रोज खून के घूंट पीकर रह गया था. लेकिन कुछ दिनों के बाद उसने मुझे बुरी तरह पीटा था. इतना मारा था उसने कि मेरा शरीर लहू-लुहान हो गया था और मैं कई दिनों तक स्कूल नहीं जा सका था.

अन्नू के बारे में सोचते-सोचते मेरा दिमाग थकने लगा है. मुझे आश्चर्य हो रहा है, आज अन्नू मेरे दिमाग पर क्यों इतना हावी हो रहा है. मैं अब इतना दूर निकल आया हूं कि अन्नू से किसी प्रकार की हानि की आशंका नहीं हो सकती. अन्नू का खयाल निकाल फेंकने के लिए मैं खिड़की के पास से हट जाता हूं और कमरे पर एक दृष्टि डालता हूं. सामने दीवार पर एक ग्रुप फोटोग्राफ है. बहुत पुरानी तसवीर. पिछले साल जब आया था तो यहां यह तसवीर नहीं थी. स्कूल के टीचरों और छात्रों का ग्रुप फोटोग्राफ. ऐसी बहुत-सी तसवीरें घर में हैं जो अब्बा की नौकरी के दिनों की

याद दिलाती हैं. कुछ तो नीचे कमरे में टंगी रहती हैं और बहुत-सी बक्स मे बन्द हैं. धूल और समय की छाप ने तसवीर को धुंधला कर दिया है. आकृतियाँ स्पष्ट दिखाई नहीं दे रही हैं. मैं रूमाल से फ्रेम का शीशा साफ करता हूँ. आकृतियाँ अब कुछ स्पष्ट हो गई हैं. पहली पंक्ति में चार व्यक्ति हैं. यह घोष बाबू हैं जो हमें गणित पढ़ाते थे. यह शिवशंकर बाबू हैं. इतिहास के अध्यापक. यह अब्बा हैं, शेरवानी, पाजामा और ऊँची दीवार की टोपी पहने हुए. चेहरे पर वही भाव जैसे अभी क्रोधातुर हो उठेंगे. और यह हैं चारु बाबू. भूगोल के अध्यापक. स्थूलकाय, सपाट चेहरा, ऐसा बेडौल शरीर कि देखते ही हँसी आए. पर किसी को साहस नहीं होता था हँसने का. सभी बच्चे आतंकित रहते थे उनके सामने. किसी बच्चे से नाराज होते तो उसे अपनी तोंद से चिपटाकर इस तरह दोनों हाथों से पीटते जैसे नगाड़े को पीटते हैं. तसवीर ने इन सबको एक-साथ बांध रखा है और तसवीर के बाहर ये सब किस तरह बिखर गए हैं. अब्बा का देहांत हुए पन्द्रह-सोलह वर्ष हो गए. घोष बाबू, शिवशंकर बाबू. चारु बाबू किसी का कुछ पता नहीं. जाने जीवित हैं या वे भी चल बसे. तसवीर की दूसरी और तीसरी पंक्ति में केवल छात्र हैं. कई आकृतियाँ जानी-पहचानी-सी लगती हैं, लेकिन किसी का नाम याद नहीं आता. एकाएक एक आकृति पर दृष्टि रुक जाती है. अरे यह तो अन्नू है. मुझे याद है, अन्नू का एक साल खराब हो गया था, लम्बी बीमारी के कारण. मैं उससे आगे निकल गया था. कितनी प्रसन्नता हुई थी मुझे उसे पीछे छोड़कर. मुझे अब याद आ गया है यह तसवीर उस समय की है जब वह नौवीं कक्षा में रुक गया था और मैं दसवीं में पहुँच गया था. अन्नू के हाथ में एक छोटा-सा कप है. शायद क्लास डिबेट में अव्वल आने पर यह कप उसे मिला था. तसवीर में अन्नू का चेहरा धुंधला-धुंधला-सा दिखाई दे रहा है. मैं उसे गौर से देखता हूँ. एकाएक लगता है, दो बुझी-बुझी आँखें मेरे शरीर में घुसती चली जा रही हैं. इन आँखों को सहना मेरे लिए बहुत कठिन हो रहा है. अन्नू दुबारा बीमार पड़ा था तो उसकी हालत और भी खराब हो गई थी. इससे पहले हम दोनों में कुछ ऐसा झगड़ा हो चुका था कि एक-दूसरे से बोलना बन्द कर चुके थे. अम्मा हमेशा ताकीद करतीं, 'अन्नू के पास न

जाना. उसे पुराना बुखार हो गया है. छूत की बीमारी है. उसकी साँस से बचना चाहिए.' अन्नू से मेरा अब कोई सम्बन्ध नहीं था. गली से गुजरते कभी उसका चेहरा खिड़की में नजर भी आ जाता तो मुँह फेर लेता. अन्नू के लिए मेरे मन में कितनी घृणा भरी हुई थी. यह सोचकर इस समय मुझे अपने आप से घृणा होने लगी है. किन्तु अन्नू के बारे में सोचते रहना मुझे फिर अप्रिय लग रहा है. मैं तसवीर के पास से हट जाता हूँ और खिड़की के पास आ जाता हूं.

नीचे गली में दो लडके अंटा खेल रहे हैं. सामने बिजली का खम्भा है जिसका बल्ब बच्चों ने पत्थर मार-मारकर तोड दिया है. बिना बल्ब के शेड कैसा खाली लग रहा है. वक्त फिर पीछे की ओर सरकने लगता है. हम दोनों भी इसी तरह बल्ब को पत्थरों का निशाना बनाया करते थे. अन्नू की दोनो आंखें मुझे फिर घेर लेती है. उसकी बुझी-बुझी आँखे भी कैसी खाली लग रही थी—लैम्प पोस्ट के इस शेड की तरह और उनमें कैसी विवशता भरी हुई थी. मैं गली से गुजर रहा था. एकाएक उसकी आवाज ने मुझे चौंका दिया था. मेरे कदम ठिठक गए थे. खिडकी से दो ज्योतिहीन आँखें मुझे घूर रही थी. हाँ, उसने मुझे पुकारा था. "अन्दर आ जाओ ना कैरम बोर्ड खेलेंगे. अकेले बहुत जी घबराता है." वह बोला था. एक क्षण के लिए घृणा की बर्फ पिघलकर बह गई थी. उसकी आवाज में टूटे हुए अहंकार की तडप थी. मैं उसके पास जाना चाहता ही था कि सहसा मुझे अम्मा की बात याद आ गई. पुराना बुखार, छूत की बीमारी. नहीं, नहीं, मुझे अन्नू की साँस से बचना चाहिए, मैं तेज़ कदमों से आगे बढ़ गया था.

मेरी निगाह लैम्प-पोस्ट के खाली शेड पर जमी हुई है. एक अजीब-सा खालीपन, एक रिक्तता मेरे अस्तित्व मे फैलती जा रही है. यह शून्य, यह खालीपन मेरे मन में क्यो व्याप्त होने लगता है. जैसे मैं भी एक शेड बनकर रह गया हूँ, ऐसा शेड जिसमें कोई बल्ब नही है. दिल्ली की गहमा-गहमी में यह रिक्तता जाने किस चोर दरवाजे मे मेरी आत्मा मे घुस आती है. मुझे लगता है, कुछ ऐसा है जिसे पूरी तरह से महसूस करते हुए भी मैं शब्दों में व्यक्त नही कर सकता और जिससे मेरा जीवन कट गया है जिस तरह लैम्प-पोस्ट का यह शेड अपने बल्ब से कट गया है.' मैं गली

पर इस सिरे से उस सिरे तक एक निगाह डालता हूँ. इस गली से मेरी कितनी स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं. क्या मेरे जीवन की यह रिक्तता इसी अतीत से कट जाने का परिणाम है? लेकिन क्या यह गंदी गली जिससे मेरा अतीत जुडा है, सचमुच मुझे इतनी प्रिय है? फिर अपने अतीत के बीचो-बीच मौजूद होते हुए भी मैं वही चिरपरिचित रिक्तता क्यों महसूस कर रहा हूँ? शायद यह मेरा भ्रम है. यह गली, यह कमरा, यह शहर जहाँ मेरा बचपन बीता है वास्तव में मेरा नही है. जिन क्षणों में यह सब कुछ मेरा था, उनसे कटकर यह सब मेरा नहीं रहा. कुछ उसी तरह जैसे लैम्प-पोस्ट का यह शेड जिसका बल्ब टूट चुका है.

नीचे से अम्मा की आवाज मेरे विचार-क्रम को तोड़ देती है. अम्मा नाश्ते के लिए बुला रही है. मैं जल्दी से मुँह-हाथ धोकर नीचे चला जाता हूँ.

"आपने कुछ खाया है या नही?" नाश्ता करते हुए अम्मा से पूछ लेता हूँ.

"बाद मे खा लूगी." अम्मा संक्षेप में उत्तर देती हैं. यह अम्मा की पुरानी आदत है. कभी वक्त पर नही खाती. ग्यारह बजे से पहले कभी नाश्ता नहीं करती, दोपहर का खाना शाम के चार बजे खाती हैं. और रात का खाना अक्सर नही खातीं. उन्हें समझाना-बुझाना बेकार है. वह अपनी आदत नही छोड़ सकती. मैं अम्मा के चेहरे को देखता हूँ और अनायास ही अब्बा का क्रोधातुर चेहरा मेरे सामने आ जाता है. यह घर जहाँ उन्हें कोई सुख, कोई आराम नही मिला क्यों उन्हे इस तरह जकड़े रखता है. इसका मोह वह नही छोड पाती. मैं, दोनों भाई, सब कह-कहकर थक गए. वह किसी के साथ रहना नही चाहती. घर को नहीं छोड़ सकती. बहुत क्रोध आता है अम्मा की इस मानसिकता पर. क्या रखा है इस पुराने बोसीदा घर में जो वह इससे इस तरह चिपटी हुई हैं. कितनी, हठ, कितनी जिद है इनके व्यक्तित्व में. और दूसरी ओर कितनी सहन-शक्ति. पति के सामने यह व्यक्तित्व जितना कुण्ठित और दबा हुआ रहा है, उतना ही मुखर और उभरा हुआ रहा है यह बेटों के सामने; सचेतन

स्तर पर मैं चाहे अम्मा से कुछ भी न डरूँ, पर अचेतन में कहीं बहुत गहरे में इनका भय अब भी छिपा हुआ है. और अम्मा को भी शायद अपनी इस शक्ति का, मेरी इस दुर्बलता का पूरा एहसास है.

"तुम्हारी दुल्हन ममानी आजकल यहीं है. बहुत देर तक तुम्हारा इंतजार करके घर गई हैं अभी फिर आएँगी." अम्मा कहती हैं.

"वह तो अब यहाँ नहीं रहती हैं न!"

"भाई के साथ रहती है, पटने में. बिचारी यहाँ रहे भी तो कैसे? न शौहर, न आल औलाद? फिर भी साल-दो-साल में एक-दो रोज के लिए आ जाती है. आखिर घर ठहरा." अम्मा ठंडी साँस लेकर कहती हैं.

मैं अम्मा के चेहरे पर एक निगाह डालता हूँ. उनके शब्दों में पीड़ा है, या आत्म-ग्लानि का एहसास या इनमें से कोई नहीं. पुराने कोसने और अपशब्द मेरे कानों में गूँजने लगते हैं अम्मा की उदारता मुझे बड़ी बनावटी महसूस होती है

दुल्हन ममानी के लिए मेरे मन में आज भी वैसी ही घृणा है जैसी पहले थी. अन्नू के बारे में जितने तटस्थ मन से सोच सकता हूँ उस तरह से दुल्हन ममानी के बारे मे नहीं सोच सकता. मुझे यह हमेशा साँप जैसी लगी है जिसके बारे में कहा नहीं जा सकता कब आपको डस लेगी.

"अपना घर बेचना चाहती है. मेरे पास रुपये होते तो जरूर खरीद लेती पड़ोस का मकान है. तुम सब भाई इस छोटे से मकान में कैसे रहोगे. तुम लोगों को भी ज्यादा जगह चाहिए." मैं खामोशी से सुनता रहता हूँ मैं अम्मा का मतलब समझता हूँ. वह चाहती हैं, मैं रुपए दूँ ताकि वह इस गंदी गली में एक और बोसीदा मकान खरीद सकें. मुझे दिल्ली की खूबसूरत पॉश कालोनियों का खयाल आता है. ऐसी ही किसी कॉलोनी मे प्लॉट खरीदने के लिए मैं रुपया जमा कर रहा हूँ. ये रुपए मैं अम्मा को कभी नहीं दे सकता. मन-ही-मन मैं अम्मा की चालाकी पर हँसता हूँ. अपनी पुरानी दबी हुई उत्कण्ठा के लिए कैसा आवरण ढूढ़ निकाला है.

दुल्हन ममानी को देखकर मैं चौंक जाता हूं यह तो अम्मा से कहीं ज्यादा बूढ़ी दिखाई देती हैं. कहीं और देखता तो पहचान भी न सकता. घृणा की बरफ पिघलने लगती है.

"अरे यह तो अब भी वैसा ही मरियल है जैसा पहले था." दुल्हन ममानी हँसकर कहती हैं. मैं तिलमिला उठता हूँ. घृणा की बरफ जो पिघलने लगी थी फिर ठोस आकार ग्रहण करने लगती है. मैं उन्हें घूरकर देखे बिना नहीं रह सकता. दुल्हन ममानी के झुर्रियों से भरे चेहरे पर हँसी बिखरी हुई है. मुझे घूरते देखकर उनके चेहरे की चमक गायब होने लगती है मैं अपनी नजर हटा लेता हूँ. लेकिन आँखों के एक कोने से उनका चेहरा अब भी देखे जा रहा हूँ. एकाएक मुझे अपनी मूर्खता का एहसास हो जाता है. साँप का जहर निकल चुका है, यह जानते हुए भी मैं उससे डर रहा हूँ. मैं भरपूर मुस्कराहट के साथ दुल्हन ममानी के चेहरे की तरफ देखता हूँ जो अब बिल्कुल निष्प्रभ दिखाई दे रहा है.

●●

दुर्ग

••

दूर से आती हुई कदमों की चाप सुनकर वह चौंक उठती है. इस समय रात मे यहाँ कौन आ सकता है. कदमों की चाप निकटतर होती जा रही है. दो धुंधली आकृतियाँ अँधेरे को चीरकर उसके सामने उभर रही हैं. मोटे स्याह कम्बल में लिपटा होने के कारण वे दोनों शायद उसे देख नहीं पा रहे है. लेकिन उसकी आँखें दोनों को देख सकती हैं. दोनों कानाफूसी के अन्दाज में बातें कर रहे हैं. शब्द उसे साफ सुनाई नही देते लेकिन उनका आशय समझने में उसे कोई कठिनाई नही हो रही है. ये दोनों ज़रूर दुर्ग को मटियामेट करने का मसूबा लेकर चले हैं. यह सोचकर उसके होठों पर एक फीकी मुस्कराहट उभरती है. वह दूर ऊँचाई पर खड़े विशालकाय दुर्ग को देखता है जो चमकीले सफ़ेद रग का होने के कारण इस घटाटोप अँधेरे में दिखाई दे रहा है. एकाएक उसे लगता है, दुर्ग की सफ़ेद रंगत स्याही में बदलने लगी है. हाँ दुर्ग का रग तब स्याह ही था और उसके पहले वह पीला था, उससे भी पहले वह नीले रंग का था. जाने कितने रग चढ़ चुके हैं उस पर अब तक. सफ़ेद तो यह बहुत बाद में हुआ. अब तो दुर्ग में सब कुछ सफेद रंग का है. उसकी दीवारें, उसके बुर्ज, उसके गुम्बद, उसके दरवाजे सब कुछ सफ़ेद रंग के हैं...यहाँ तक कि दुर्ग के प्रहरियो और अधिकारियों की पोशाक तक सफेद रंग की है. सिर्फ इतना ही नही, दुर्ग के भीतर साज-सज्जा की सारी सामग्री और दैनिक उपयोग मे आने वाली तमाम वस्तुएं भी सफेद रंग की हैं. सचमुच यह भी कोई मामूली परिवर्तन नहीं है. वह व्यंग्यभरी मुस्कुराहट के साथ सोचता है.

ऐसे ही एक अँधेरी रात में वे यानी 'ख' और 'क' इस जगह आए थे.'

'क' ने दुर्ग की ओर अपनी तर्जनी तानते हुए कहा था. "वह देखो ! वह काला दुर्ग है न सामने की पहाड़ी पर. वही तमाम मुसीबतों की जड़ है. हम जब तक उसे मटियामेट नहीं कर देते तब तक हमारे दुखों का अन्त नहीं हो सकता."

उन दिनों दुर्ग का रंग काला ही था. 'क' ने दुर्ग का पूरा इतिहास उसके सामने अनावृत्त करके रख दिया था. दुर्ग की एक बिल्कुल नई परिभाषा उसे मिली थी जिसने उसके दिमाग और आँखों को नई रोशनी से भर दिया था. ऐसी बात नहीं थी कि उसने 'क' के साथ दुर्ग को पहली बार देखा था. जाने कितनी बार वह इसे पहले भी देख चुका था. उसकी विशालता और शक्ति को वह पहले भी महसूस करता रहा था. पर दुर्ग के बाहर फैली हुई विपन्नता से दुर्ग का भी कोई रिश्ता हो सकता है, यह बात *उसकी समझ में नहीं आई थी.* 'क' के शब्दों ने इस रिश्ते को जैसे खोलकर रख दिया था. अब यह बात सन्देह से परे थी कि चारों ओर फैली हुई विपन्नता को खत्म करने के लिए इस स्याह दुर्ग को खत्म करना जरूरी था. 'क' के शब्दों में अजीब जादू भरा हुआ था. ये शब्द उसकी आत्मा की गहराइयों में उतरते चले गए थे. वह मन्त्र-मुग्ध-सा खड़ा इन शब्दों में निहित सच्चाई को अपनी नस-नस में घुलता महसूस कर रहा था. सहसा उसे लगा था, उसके दो बाहुओं में सहस्र बाहुओं की शक्ति सिमट आई है, जैसे *वह अकेले ही इस विशालकाय दुर्ग* को तहस-नहस कर सकता है.

'क' ने जैसे उसके संकल्प को भाँप लिया था और कहा था : "नहीं, तुम अकेले दुर्ग से नहीं लड़ सकते. तुम्हें दुर्ग की मजबूती और शक्ति का सही अनुमान नहीं है. कोई भी इस दुर्ग को अकेले नष्ट नहीं कर सकता. इसीलिए तो मैं तुम्हें पहले जन-समूह के बीच लिए घूमता फिरा हूँ. जन-समूह ही दुर्ग को खत्म कर सकता है. हमें जन-समूह को इसके लिए तैयार करना होगा."

वे दोनों अब कुछ और निकट आ गए हैं. उसके अस्तित्व से बेखबर दोनों दुर्ग को टकटकी बाँधकर देखे जा रहे हैं जिस तरह कोई शिकारी अपने निशाने को टकटकी बाँधकर देखता है. फिर एक ने कहना शुरू

किया.

"हमें दुर्ग के सफेद रंग से धोखा नहीं खाना चाहिए. यह एक बहुत बड़ा जाल है, एक षड्यन्त्र है जिसे हमें अच्छी तरह समझ लेना है. इसकी सफेदी पर न जाओ. सफेदी के नीचे स्याही की मोटी तहें हैं. वह दुर्ग का असली रंग है. हमें जन-समूह को इसके असली रंग की झलक दिखानी है. तभी तो वह अपनी पूरी शक्ति से दुर्ग पर हमला कर सकता है."

दूसरा मन्त्र-मुग्ध-सा खड़ा इन शब्दों को सुन रहा है. वह बिल्कुल खामोश है जैसे इन शब्दों के चमत्कारी प्रभाव ने उसकी वाक् शक्ति छीन ली हो. वह सोचता है, यह निस्सन्देह मेरा ही उत्तर पुरुष होगा और वह जिसके शब्दों में ऐसा जादू है 'क' का ही उत्तर पुरुष हो सकता है.

यह कितनी अजीब बात है कि सब कुछ फिर उसी क्रम से हो रहा है जैसे नाटक खत्म होने के बाद फिर उसी बिन्दु पर पहुँच गया है जहाँ से वह शुरू हुआ था.

'क' बहुत देर तक दुर्ग के बारे में उसे बताता रहा था. दुर्ग का उद्भव किस प्रकार हुआ, उसका आदिम रूप क्या था, समय के साथ उसमें क्या परिवर्तन हुए, उस पर किन शक्तियों का आधिपत्य है, इन शक्तियों ने किस तरह पहाड़ी के नीचे रहने वाले जन-समूह को अपने शिकंजे में जकड़ रखा है, किस तरह जन-समूह के घोर परिश्रम का सारा फल दुर्ग हड़प लेता है. 'क' की तर्क-शक्ति गजब की थी. उसकी बातों से सहमत होना ही पड़ता था. दुर्ग के बारे में उसकी जानकारी सचमुच विलक्षण थी. उसके अतीत और वर्तमान का कोई भी पहलू नहीं था जो उसकी दृष्टि से ओझल हो.

'क' ने कहा था, "दुर्ग अनगिनत रंग बदल चुका है. परन्तु अन्दर से वह जरा भी नहीं बदला. केवल रंग बदलने से क्या होगा है? यह तो आँखों में धूल झोंकने का एक जरिया है. दुर्ग को तहस-नहस किए बिना कुछ नहीं हो सकता. हमें यह बात अच्छी तरह समझ लेनी है."

फिर दुर्ग के घड़ियाल ने चार बजाए थे. 'क' ने कहा था कि, "अब हमें यहाँ से खिसक जाना चाहिए. सवेरा होने को है. दुर्ग के प्रहरी हमें देख सकते हैं."

वह और 'क' चल पड़े थे और अँधेरी तंग गलियों से गुजरते हुए एक बोसीदा मकान मे दाखिल हुए थे. यही उसकी पहली मुलाकात 'ग', 'घ', 'त' और 'थ' से हुई थी. कितनी छोटी मंडली थी यह जो इतने विशाल दुर्ग को नेस्तनाबूद करने की सनक लेकर चली थी. परन्तु जन-समूह कुछ इस तरह अपने खोल मे घुसा हुआ था कि वह उससे निकलने को तैयार न होता था. वह यह सोच भी नही सकता था कि दुर्ग जैसी अटल चीज़ को खत्म किया जा सकता है. वह और 'ग' और 'घ', 'त' और 'थ' और बहुत सारे साथी निराश हो उठते थे. जन-समूह तो बर्फ की सिल्ली है जिसमे गर्मी नाम-मात्र को भी नही है. इस निर्जीव, निष्प्राण और निष्क्रिय जन-समूह से दुर्ग को तहस-नहस करने मे क्या सहायता मिल सकती है. लेकिन 'क' उनकी हिम्मत बँधाता और कहता : "जन-समूह सदियो से सोया हुआ है. उसे जगाना पड़ेगा. जाग जाने पर तुम देखोगे कि उसकी शक्ति असीम है और वह इस दुर्ग की ईंट से ईंट बजा सकता है." 'क' सच कहता था. जन-समूह जब जागने लगा तो दुर्ग में भूचाल-सा आ गया था. दुर्ग ने खतरे को महसूस कर लिया था और उसके प्रहरी चौकन्ने हो गए थे. वे उसको, 'क' को और उन सबको ढूंढते फिरते थे जिन्होंने दुर्ग को चुनौती दी थी. एक लम्बी लड़ाई शुरू हो चुकी थी. दुर्ग की ताकत का सही अनुमान दरअसल अब हो रहा था. किसी खूंख्वार भेड़िये की तरह वह उसे और उस जैसे तमाम लोगों को फाड़ डालने के लिए आतुर था. जैसे-जैसे लड़ाई संगीन होती जा रही थी दुर्ग भी अपने पैंतरे बदल रहा था. दुर्ग केवल आतंक ही उत्पन्न नहीं कर सकता था, प्रलोभन भी दे सकता था.

लड़ाई ने जाने कितने मोड़ लिए थे. ऐसे मोड़ भी आए थे जब लगता था कि दुर्ग जीत गया है और दुर्ग को तहस-नहस करने के तमाम सपने खाक मे मिल गए हैं. और ऐसे मोड़ भी आए थे जब दुर्ग ध्वस्त होता दिखाई दिया था. परन्तु वास्तव में न तो दुर्ग ध्वस्त हो रहा था और न ही उसे नेस्तनाबूद करने के स्वप्न भंग हो रहे थे. लगता था, लड़ाई अंतहीन है, उसकी कोई सीमा नहीं है.

'घ' इस लड़ाई में मारा गया था. 'घ' की मृत्यु के बारे में सोचकर उसकी आँखें भीग गईं. लेकिन यह कितना अच्छा हुआ कि वह लड़ाई के

दौरान ही चल बसा. जीवन के अन्तिम क्षणों में भी दुर्ग को ध्वस्त करने के स्वप्न उसकी आँखो में उसी तरह चमक रहे थे. वह इस विश्वास के साथ मरा था कि दुर्ग की बुनियादें खोखली हो चुकी हैं और चन्द दिनो मे ही वह ढह जाएगा. उसके अन्तिम शब्द उसके कानों मे आज भी गूँज रहे हैं : "मुझे अपने मरने का कोई दुःख नही है. मैं जानता हूँ कि तुम सब दुर्ग को ध्वस्त करके ही दम लोगे."

वह सोचता है, वे लोग सचमुच बड़े सौभाग्यशाली होते हैं जो अपने सपनो को छाती से लगाए दुनिया से चल देते हैं.

उसे याद आता है, 'घ' के शव के पास खड़े होकर उसने, 'क' ने और दूसरे साथियों ने प्रतिज्ञा की थी कि वे जब तक दुर्ग का नामोनिशान नही मिटा देगे तब तक चैन की साँस नहीं लेंगे. वातावरण कितना गम्भीर हो गया था उस समय. और अब यह सब कैसा ढोंग लगता है जैसे जो कुछ उस समय हुआ था, वह मात्र अभिनय था, वास्तविकता का अंश नही था.

और तब 'क' में जैसे कुछ परिवर्तन आने लगा था. दुर्ग के विरुद्ध संघर्ष चल रहा था और 'क' पूर्ववत इस संघर्ष का नेतृत्व कर रहा था. पर भीतर से वह कुछ बदलता जा रहा था जिसका आभास उसके बाह्य आचरण से भी होता था. दुर्ग को खत्म करने की बात वह अब भी करता था. लेकिन उसके शब्दों में अब पहले जैसी दृढ़ता नही थी. आखिर 'क' ने एक रोज उससे स्पष्ट कह दिया था : "यह लड़ाई जाने कब तक चलती रहेगी. दुर्ग बहुत मजबूत है. उसे तहस-नहस करना सचमुच बड़ा मुश्किल काम है. जन-समूह भी बहुत थक गया है. वह अनत काल तक इस संघर्ष में हमारा साथ नही दे सकता."

उसे बड़ा आश्चर्य हुआ था और अत्यधिक दुख भी. 'क' से ऐसे शब्दों की आशा उसने कभी नही की थी.

"लेकिन जन-समूह तो पूरी तरह से हमारा साथ दे रहा है. हमें उसकी निष्ठा और सहयोग पर संदेह नहीं करना चाहिए." उसने पहली बार 'क' के मत का खण्डन करने की कोशिश की थी.

"तुम जन-समूह को नही जानते. मैं उसकी नस को पहचानता हूँ। साफ़ देख रहा हूँ कि वह बहुत दिनों तक हमारा साथ नही दे सकता."

उसकी बातों से चिढ़ गया था.

सचमुच उस दिन 'क' के रवैये पर उसे बड़ा ताज्जुब हुआ था. आज यह क्यों ऐसी बातें कर रहा है. फिर उसने 'क' के चेहरे को गौर से देखा था और उसके शरीर का जायजा लिया था. आश्चर्य है, उसने कभी इस पर ध्यान नहीं दिया था कि 'क' का चेहरा झुर्रियों से भर गया है और उसके फौलादी बाहुओं में और शरीर में शिथिलता आ गई है. वह तो अब तक 'क' के उसी रूप को सीने से लगाए फिरता है जिसने उसे दुर्ग से लड़ने की शक्ति दी थी.

'क' ने कहा था : "हमें अपनी नीति बदलनी होगी. थके हारे जन-समूह की सहायता से हम दुर्ग को नेस्तनाबूद नहीं कर सकते. अब दुर्ग के अन्दर पहुँचकर ही दुर्ग को खत्म किया जा सकता है."

'क' के शब्द उसे बिल्कुल निष्प्राण लगे थे जैसे स्वयं वक्ता को इनकी सच्चाई पर विश्वास न हो. 'क' ने ही तो कहा था : "दुर्ग के अन्दर पहुँचकर सब दुर्ग के रंग में रंग जाते हैं. दुर्ग बहुत बड़ा प्रलोभन भी है जिसकी जड़ें हमारे दिलों तक फैली हुई हैं."

'क' के ये शब्द उसे उस समय भी याद आए थे. क्षणभर को उसकी इच्छा हुई थी कि इन शब्दों को वह 'क' के मुँह पर दे मारे. पर उसके मुँह से एक शब्द भी नहीं निकल सकता था.

'क' दुर्ग में रहने लगा था. उसने दुर्ग में पहुँचते ही दुर्ग के रंग को बदल डाला था. स्याही का स्थान सफेदी ने ले लिया था. 'क' ने बड़े गर्व से घोषणा की थी : "दुर्ग का रंग बदल गया है. अब यह जन-समूह की सम्पत्ति है. इसे ध्वस्त करना अब आवश्यक नहीं है."

तभी से उसकी यह दिनचर्या बन गई है. वह दिन-भर जंगलों और पहाड़ों में घूमता फिरता है और जब रात का सन्नाटा हर चीज को निगल लेता है तो दुर्ग के नीचे इस निर्जन मैदान में आकर पड़ रहता है और दुर्ग को टकटकी बाँधकर देखता रहता है. इस निर्जन और सुनसान जगह में पड़े रहकर दुर्ग को ताकते रहना उसे बहुत अच्छा लगता है. समय की गुफाएँ उसके सम्मुख अपने द्वार उन्मुक्त कर देती हैं और वे क्षण उसके बहुत समीप आ जाते हैं जब उसने दुर्ग को तहस-नहस करने का स्वप्न

देखा था. रात के अन्धकार-पूर्ण सन्नाटे में दुर्ग उसे बहुत रहस्यमय लगता था. उसे अपने भोलेपन पर हँसी आती है कि वह कभी इस दुर्ग को नेस्त-नाबूद करने का संकल्प लेकर चला था.

दूर दुर्ग के घड़ियाल ने चार बजाए हैं.

वे दोनों अब उसके बहुत निकट आ गए हैं. एक कहता है : "अब सवेरा होने को है हमें यहाँ से खिसक जाना चाहिए. दुर्ग का कोई प्रहरी हमें देख सकता है." इतना कहकर वह अपनी रफ्तार तेज़ कर देता है. दूसरा उसके पीछे-पीछे चल रहा है.

वह सोचता है, ये दोनों भी उन अँधेरी तंग गलियों में जाएँगे जहाँ जन-समूह रहता है और किसी बोसीदा मकान में बैठकर दुर्ग को मटिया-मेट करने का मंसूबा बनाएँगे. उसका जी चाहता है कि चीख-चीखकर कहे : "तुम किस भ्रम में पड़े हो. यह दुर्ग कभी नेस्तनाबूद नहीं हो सकता क्योंकि इसकी जड़ें तुम्हारे दिलों में पैवस्त हैं.' 'परन्तु शब्द उसके गले में अटककर रह जाते हैं. एकाएक उस पर हँसी का दौरा-सा पड़ता है. वह पागलों की तरह चीख-चीखकर हँसने लगता है.

वे दोनों क्षण भर को ठिठक कर खड़े हो जाते हैं और पीछे मुड़कर देखते हैं. एक कहता है : "कोई पागल लगता है या शायद दुर्ग का जासूस है."

दोनों तेज़ कदमों से भागने लगते हैं.

उसके कहकहे सन्नाटे को चीरते हुए बहुत दूर तक दोनों का पीछा करते रहते हैं.

●●

मक़बरे का आदमी

●●

शाम का धुंधलका अब बरामदे में घुस आया है. दूर फूस की झोंपड़ियों से उठता हुआ धुआं अंधेरे में विलीन हो चुका है. अलताफ मामूं जाने यादों की किस दुनिया मे खोए हुए हैं. सारा वातावरण एक गहरे सन्नाटे में लिपटा हुआ है. रह-रहकर अलताफ मामूं हुक्के का लम्बा कश लेते हैं तो क्षणभर के लिए सन्नाटा टूट जाता है. कोई बाईस वर्ष हुए जब पिछली बार यहां आया था सोचा था इस अर्से में यहां की दुनिया भी काफी बदल गई होगी. लेकिन शहबाज़पुर बिलकुल वैसा ही है जैसा मैंने बाईस वर्ष पूर्व देखा था. बचपन में शहबाजपुर जाने के नाम से ही हम लोग कांप उठते थे. उजाड़ गांव ! रौनक नाम को नहीं. दिन भर छत की कड़ियां गिनते रहिए या अलताफ मामूं की डांट-फटकार सुनते रहिए—"सिर के बाल क्यों बढा रखे हैं? मजनूं बनने का इरादा है क्या ? बड़ों के सामने घुटने टेक-कर बैठना चाहिए. आजकल के बच्चों को तमीज़ छू तक नहीं गई. बड़ों के सामने ज़ोर से नहीं बोलते." अलताफ मामूं नाक में दम कर देते थे, मुझे अफजल भाई की हालत पर तरस आता. मेरे साथ तो फिर भी रियायत की जाती थी. मुझे कभी मारापीटा नहीं. लेकिन अफ़ज़ल भाई तो उनके बेटे थे, उन पर उनका पूरा अधिकार था. शायद ही कोई दिन गुजरता जब अलताफ मामू छड़ी या थप्पड़ से उनकी खबर न लेते. बेटे को दंड देने के भी अजीब-अजीब तरीके थे उनके. एक बार अफजल भाई को पाखाने में बन्द कर दिया. दो दिन बाद जब दरवाज़ा खोला गया तो वह बेहोश हो चुके थे. कई रोज़ तक बीमार रहे. एक ओर बेटे के साथ यह बरताव था. दूसरी ओर अलताफ मामू रहमदिल थे कि कोई कुछ मांगने आ जाता तो

उसे खाली हाथ न लौटने देते. खाने के बेहद शौकीन. दस्तरखान पर जितने ज्यादा मेहमान होते उतने ही ज्यादा खुश होते. शिकार के पीछे तो पागल थे वह. अपने घोड़े को इतना मानते थे कि बस कुछ न पूछिए. मैंने अपनी आँखों से उन्हें घोड़े को मक्खन खिलाते देखा है. इन सब बातों के बारे में सोचता हूँ तो बडा आश्चर्य होता है. जो आदमी अपने बेटे पर इतना अत्याचार करता हो वह दूसरे लोगों के प्रति, यहाँ तक कि पशुओं के प्रति इतना दयावान् किस तरह हो सकता है. मैं अलताफ मामूं के किस्से अपने साथियों को सुनाता तो उन्हें विश्वास न होता.

लेकिन इन बाईस वर्षों में अलताफ मामू बिलकुल बदल चुके हैं. चुस्त पाजामा, खुले गले का लम्बा कोट, ऊँची दीवार की टोपी और गले में लटकती हुई कारतूस की पेटी! हाथ मे बन्दूक लिए घुड़सवारी को निकलते तो सारा गाँव आतंकित हो उठता. मैं शहर में रहता था. उन दिनों शहर का थानेदार अकसर घोड़े पर गश्त करने निकलता था. लोग उसे देखकर डर से किनारे हट जाते थे. लेकिन अलताफ मामूं के रोब-दाब के सामने थानेदार की शान मुझे बहुत फीकी नजर आती. हम किसी क्षण, किसी दृश्य को क्यों इस तरह अपनी छाती से लगाए फिरते हैं कि हमें खयाल भी नहीं होता कि वह क्षण कब का बीत चुका है, वह दृश्य कब का बदल चुका है इसकी अनुभूति होने पर हमें एक धक्का-सा लगता है. मैं जब दिल्ली से चला था तो मन में रह-रहकर वही तसवीरें उभर रही थीं जो बाहर की दुनिया मे अपना अस्तित्व खो चुकी थी. अलताफ मामूं को देखकर मुझे यही महसूस हुआ कि मैंने यहाँ आकर बड़ी मूर्खता की है. अलताफ मामूं तो उस चित्र की तरह दिखाई दे रहे थे जो अब पुराना पड़ चुका था, जिसमे कोई चमक-दमक शेष नहीं रह गई थी. गाढ़े का कुरता गाढ़े की तहमद, हाथ मे तसबीह, चेहरे पर झुर्रियों का जाल. बाईस साल में आदमी कितना बदल जाता है, यह सोचकर बड़ा अजीब-सा लगा था.

नौकर ने लालटेन लाकर तिपाई पर रख दी है. बरामदे में मटियाला उजाला फैल गया है. अलताफ मामूं का व्यक्तित्व मुझे बहुत लग रहा है. दूर से किसी उल्लू के चीखने की आवाज आती है.

मामूं चौंक पड़ते हैं.

"उल्लू है. बड़ा ही मनहूस जानवर है. जब कभी इसकी आवाज़ सुनता हूँ कोई-न-कोई आफत ज़रूर आती है." अलताफ मामूं की आवाज मेरे कानों में पहुँचती है.

मैं मन-ही-मन हँसता हूँ. अब ऐसी कौन-सी आफत रह गई है जिसका उन्हें अंदेशा है. अलताफ मामूं अब भी जीवन से लिपटे हुए हैं. मुझे माहौल में कुछ ताज़गी-सी महसूस होने लगती है.

"तुम पिछली बार यहां कब आए थे?" अलताफ मामूं मुझसे पूछते हैं.

"बाईस साल हो गए."

"हां! उस वक्त अफ़ज़ल यहीं था. मैंने बहुत कहा, पाकिस्तान न जाओ. वह आज यहां होता तो यह उम्मीद तो रहती कि मेरे बाद भी इस घर मे चिराग जलेगा." अलताफ मामूं ठण्डी सांस लेकर कहते हैं. उनके शब्दों में मुझे काफूर की गंध महसूस होती है.

मैं कुछ कहना चाहता हूँ. लेकिन शब्द नहीं सूझते. दिमाग बहुत पीछे की तरफ दौड़ रहा है. अफज़ल भाई को शहबाजपुर मे दहशत-सी होती थी. वह यहां से निकल जाना चाहते थे. लेकिन अलताफ मामूं की गिरफ्त इतनी मजबूत थी कि वह कुछ न कर सकते थे. फिर मैंने सुना कि एक रोज़ अफज़ल भाई चुपके से किसीको खबर किए बिना शहबाजपुर से निकल भागे. जाने पाकिस्तान में वह खुश हैं कि नहीं? लेकिन अलताफ मामूं के चंगुल से निकलकर उन्होंने यकीनन चैन की सांस ली होगी.

"जानते हो, अफज़ल बराबर लिखता है, यहां आ जाइए. लेकिन शहबाजपुर मुझसे नहीं छोड़ा जाता." काफूर की गंध फिर से मेरे नथुनों मे घुसने लगती है.

मैं कुछ कहना चाहता हूँ. लेकिन शब्द फिर साथ नहीं देते हैं.

तो क्या अफज़ल भाई सचमुच अब पुरानी बातों को भूल चुके हैं या केवल औपचारिकता निभाने के लिए वह यह सब अलताफ मामूं को लिख रहे हैं. शायद वह जानते हैं कि अलताफ मामूं कभी भी शहबाजपुर छोड़कर नहीं जाएंगे.

"दिल्ली में तुम्हारी तबियत तो खूब लगती होगी. बच्चे सब ठीक हैं ना."

"जी हां." मैं सोचे-समझे बिना ही कह देता हूं. क्या सचमुच दिल्ली में मेरा जी लगता है ! मैं सोचने लगता हूं. शहरी जीवन के पेचीदा, उलझाव-भरे जाल मुझे घेर लेते हैं. मरघट के इस सन्नाटे से महानगर का जीवन फिर भी अच्छा है,' मैं अपने मन मे सोचता हूं.

"चालीस साल हुए जब मैं दिल्ली गया था. चांदनी चौक में तो अब भी वैसी ही रौनक रहती होगी."

"जी हां." मैं सक्षेप मे उत्तर देता हूं. अलताफ मामूं को अब कौन बताए कि अजमल खां मार्केट के सामने चांदनी चौक की रौनक फीकी पड़ चुकी है.

"पहले यहां भी कितनी रौनक रहती थी." काफूर की गंध फिर मेरे दिमाग पर हावी होने लगती है. अलताफ मामूं का वाक्य मुझे अर्थहीन लगता है. शहबाजपुर तो मुझे सदा ही उजाड़ और बेरौनक दिखाई दिया है.

"कभी सोचता हूं तो बड़ा अजीब-सा लगता है. देखते-ही-देखते सब कुछ कितना बदल गया. एक-एक करके सब यहां से चले गए. मुल्क बटा, खानदान बटे. फिर जमीदारी खत्म हो गई. मैंने कभी सोचा भी न था कि मेरे बाद शहबाजपुर खत्म हो जाएगा."

अलताफ मामूं का आखरी वाक्य सुनकर मैं कुछ चौंक जाता हूं. इनके भीतर का 'मैं' अब तक जीवित है.

"मैं अफजल को अपने जैसा बनाना चाहता था. इसीलिए सख्ती करता था. लेकिन आदमी के सोचे क्या होता है." मैं जानता हूं अलताफ मामूं कभी अपनी गलती नही मानेंगे. रस्सी जल जाती है लेकिन उसकी ऐंठ नही जाती. "अफजल को देखे दस साल से ज्यादा हो गए. बच्चे की तसवीर भेजी थी. देखोगे !" अलताफ मामूं कुरते की जेब मे से एक पुराना लिफाफा निकालकर मेरी ओर बढ़ा देते हैं. लालटेन की मद्धिम रोशनी में तसवीर को देखकर मैं उसे फिर लिफाफे में रख देता हूं.

"बिलकुल अफजल जैसा है. तुम्हें अफजल का बचपन तो क्या याद होगा ! बचपन में अफज़ल बिलकुल ऐसा ही लगता था. बच्चे के अँग्रेजी बाल हैं. अफजल को भी अँग्रेजी बाल रखने का बहुत शौक था लेकिन मैंने कभी रखने नही दिए." अलताफ मामूं के स्वर में ग्लानि का भाव है या विजय का, मैं कुछ निर्णय नहीं कर पाता.

"लेकिन अफज़ल को मैं अपने जैसा नही बना सका. उसमें फौलाद की सख्ती थी ही नही. एक बार बेगार न देने के जुर्म में एक किसान की चमड़ी उधेड़कर रख दी थी, तो जानते हो अफज़ल का क्या हाल हुआ था. वह बेहोश होकर गिर पड़ा था. उस रोज़ मैं बिलकुल नाउम्मीद हो गया था."

अलताफ मामूं के शब्द मुझे आश्चर्यचकित कर देते हैं. उन्होंने अपने को किस तरह एक किले में बन्द कर रखा है. लेकिन क्या सचमुच उनको यह एहसास नही होता कि उनका यह किला रेत का बना हुआ है, अन्दर से बिलकुल खोखला है.

"लेकिन यह अच्छा ही हुआ कि वह मेरे साँचे में न ढल सका. ऐसे साँचे में ढलने का क्या फायदा जो बेकार हो चुका हो." अलताफ मामूं का रेत का किला एक ही झटके से गिर पड़ता है. अफज़ल भाई उसके दिमाग पर किस तरह छाये हुए हैं, यह सोचकर मुझे बड़ा ताज्जुब होता है.

अलताफ मामूं अब खामोश हो गए हैं जैसे जो कुछ कहना चाहते थे वह सब कह चुके हैं और अब कहने को कुछ शेष नही रह गया है. उनकी *निगाहें दूर तक फैले हुए अँधेरे मे जैसे कुछ ढूंढ़ रही हैं.* मुझे उनकी खामोशी बहुत सुखद लगती है. लगता है, इस वातावरण मे खामोशी जितना कह सकती है उतना शब्द नही कह सकते.

अगले रोज़ सवेरे मैं अलताफ मामूं से बिदा लेना चाहता हूं तो वह कहते हैं : "दो-चार रोज़ तो रुको. यह भी कोई आना हुआ."

"मेरी छुट्टियाँ कल खत्म हो रही हैं." मैं साफ झूठ बोल जाता हूं.

"जैसी तुम्हारी मर्ज़ी. ज़मीदारी तो रही नहीं कि सवारी का इन्तज़ाम कर सकूं. मीलभर पैदल जाना होगा."

"मील भर का फासला भी कोई फासला है." मैं हाथ मे सूटकेस

लेकर चल पड़ता हूँ. अलताफ मामूँ बरामदे में खड़े मुझे देखते रहते हैं. सामने बहुत बड़ा बाग है. दरख्तों के झुण्ड से गुज़रते हुए मैं पीछे मुड़कर देखता हूँ. अलताफ मामूं अब बरामदे में नहीं हैं. दरख्तों की कतारों के बीच मे से उनका मकान मुझे मक़बरे जैसा लगता है. मैं इतमीनान की सांस लेता हूँ और अपनी रफ्तार तेज़ कर देता हूँ. बस अड्डा अब आध मील रह गया है. एकाएक मुझे महसूस होता है कि मुर्दों की दुनियां से निकलकर मैं जिन्दों की दुनिया में जा रहा हूँ.

•●●

अन्तिम इच्छा

●●

दोपहर का खाना खाकर मैं बाहर के कमरे में तख्त पर लेटा सोने की कोशिश कर रहा हूँ, दो बार नींद आकर टूट चुकी है. एक बार कुत्तों के भौंकने की आवाज़ से और दूसरी बार गली मे बच्चों के शोर मचाने के कारण. अब फिर सोने की कोशिश कर रहा हूँ. पलकें कुछ बोझिल होने लगी हैं. लगता है, नींद जल्दी ही मुझे अपने काबू मे कर लेगी. हर तरफ़ गहरी खामोशी है. केवल दीवार पर लगी घड़ी की टिक्-टिक् इस खामोशी को हल्के-से तोड़ती है. लेकिन यह आवाज़ कानों को नागवार नहीं लगती. नींद ने फिर मुझे आ दबोचा है. एकाएक मेरी आँखें फिर खुल जाती हैं. कहीं आस-पास से रोने की आवाज़ आ रही है. नींद का मोह मुझे इस आवाज़ में दिलचस्पी लेने से रोकता है. कोई रोता है तो रोने दो. मुझे क्या. मैं अपने दिमाग से इस आवाज़ को जो लगातार मेरे कानों से टकरा रही है निकाल फेंकने की कोशिश करता हूँ. लेकिन आवाज़ निरन्तर बुलन्द होती जा रही है. किसी एक व्यक्ति के रोने की आवाज नहीं लगती. सामूहिक रुदन जैसी आवाज़ है. बहुत सारे लोग मिलकर रो रहे हैं जैसे किसी की मौत पर रो रहे हों.

इस आवाज़ को अहमियत न देना अब मेरे लिए नामुमकिन होता जा रहा है. पास-पड़ोस में ज़रूर किसीकी मौत हो गई है. जाने कौन मर गया है. कहीं सपाती राज का लड़का तो नहीं चल बसा. बीमार था. आज सवेरे डॉक्टर देखने आया था. लेकिन वह इतना बीमार तो था नहीं. नहीं, यह बात नहीं हो सकती. मैं आवाज़ की दिशा का पता लगाने की कोशिश करता हूँ. नहीं, यह आवाज़ उधर से नहीं आ रही है जिधर सपाती राज

का घर है. आवाज़ छोटी अम्मा के घर की तरफ से आ रही है. लेकिन छोटी अम्मा के घर से रोने की आवाज़ आने का सवाल नहीं उठता. अभी कुछ देर पहले ही तो गया था वहां. सब कुछ ठीक-ठाक था. तमाम लोग भले-चंगे थे. नहीं, यह आवाज़ कहीं और से आ रही है. मैं आश्वस्त होकर फिर सोने की कोशिश करने लगता हूँ. लेकिन नींद जैसे विद्रोह करने पर तुली हुई है. रोने की आवाज़ निरन्तर बुलन्द होती जा रही है. न चाहते हुए भी एक आतंक मुझे घेर लेता है. मौत की डरावनी परछाइयां आँखों के सामने नाचने लगती हैं.

एकाएक अम्मा घबराई हुई कमरे में आती है और कहती है :

"देखो तो क्या बात है ? तुम्हारी छोटी अम्मा के यहाँ पिट्टस पड़ी हुई है. खुदा खैर करे. जल्दी जाओ."

मैं बदहवासी की हालत में छोटी अम्मा के घर की तरफ भागता हूँ. पहुँचकर देखता हूँ कि वहां सचमुच कुहराम मचा हुआ है. छोटी अम्मा अपना सिर ज़मीन पर पटक रही हैं और चीख-चीखकर रो रही हैं.

"हाए ! कैसा खोरा लगा दीहिसई पाकिस्तान हमरे घर को, छीन लीहिस मेरे लाल को."

घर के तमाम लोग गला फाड़-फाड़कर रो रहे हैं. एकाएक क्या हो गया ! कुछ समझ में नहीं आ रहा है. मैं हतप्रभ-सा खड़ा सबको देख रहा हूँ. किसी से कुछ पूछने की हिम्मत नहीं हो रही है. एकाएक चारपाई पर पड़े एक गुलाबी कागज पर मेरी नज़र पड़ती है.

तार को पढ़ते ही सब कुछ मालूम हो जाता है. तार कराची से आया है. कमाल भाई के मरने की सूचना दी गई है. लेकिन एकाएक यह सब कैसे हो गया. हफ्ते भर पहले की तो बात है. कमाल भाई का खत आया था. बीमार होते तो जरूर लिखा होता. खत में ऐसा कुछ भी तो नहीं था जिससे उनकी बीमारी का पता चलता. वैसे उनका स्वास्थ्य बहुत खराब चल रहा था. दो साल पहले आए थे तो पहचानना मुश्किल हो गया था उनको. पहले जैसा गठा हुआ शरीर नहीं रहा था. बेहद दुबले हो गए थे. गोरा चिट्टा रंग भी गायब हो चुका था. चेहरा पीला पड़ गया था और गालों में गड्ढे पड़ गए थे. आँखें अन्दर को धँस गयी थीं. लगता ही नहीं

था कि यह वही कमाल भाई हैं. कहते थे—"कराची की आबोहवा रास नहीं आयी. भूख बिलकुल नहीं लगती और हाजमा खराब रहता है."

मुझे अच्छी तरह याद है, कमाल भाई जब पाकिस्तान जा रहे थे तो घर के सब लोगों ने उन्हें रोकने की कोशिश की थी. छोटे अब्बा तब जीवित थे. उनकी बात भी नहीं मानी थी कमाल भाई ने. छोटे अब्बा ने नाराज होकर कहा था—"मैं जानता था कि यह मेरी बात नहीं मानेगा शुरू से ही यह ऐसा है. मां-बाप को कुछ समझता ही नहीं है."

कमाल भाई सचमुच बहुत जिद्दी थे. छोटे अब्बा और छोटी अम्मा सिर पटककर रह गए लेकिन वह टस से मस नहीं हुए. उल्टे कहने लगे : "आप लोग भी निकल चलिए. बाद में पछताइएगा."

छोटी अम्मा बोली थो, "यह तो हम से न होगा. अपना घर-द्वार छोड़कर परदेश जा बसें."

कमाल भाई की शादी हुए पांच-छ. महीने ही हुए थे. अपनी नयी नवेली दुल्हन को लेकर वह पाकिस्तान चले गए थे.

कमल भाई इस तरह अचानक ही चल बसेंगे, इसकी कल्पना भी नहीं की थी हम लोगों ने.

रात काफी बीत चुकी है. आसपास के वातावरण पर बहुत गहरा सन्नाटा छाया हुआ है. रह-रहकर छोटी अम्मा के रोने की आवाज सन्नाटे को तोड़ जाती है. कभी कोई कुत्ता बड़े ही डरावने स्वर में रोने लगता है जिससे फिज़ा और भी भयावह हो जाती है. मन बहुत खिन्न हो गया है. सोने की कोशिश करता हूं. लेकिन नींद कहीं दूर भाग गई है. जब भी आंखें बन्द करके सोने की कोशिश करता हूं तो कमाल भाई की मुखाकृति सामने आकर मन को विचलित कर देती है. बहुत-सी बातें याद आ रही हैं. पर दिमाग किसी एक बिन्दु पर टिक नहीं रहा है. स्मृतियां किसी जुलूस की तरह गुज़र रही हैं.

सामने चारपाई पर अम्मा भी करवट बदल रही हैं. उन्हें भी नींद

नहीं आ रही है. वह भी शायद कमाल भाई के बारे में ही सोच रही हैं.

"कमाल गरीब जवानी मौत मरा. वह भी परदेस में" अम्मा की आवाज मुझे सुनाई देती है. मैं कोई जवाब नहीं देता हूँ.

कमाल भाई के जाने कितने चेहरे मेरी आंखों के सामने झिलमिला रहे है. बारह-तेरह साल की उम्र के लड़के का चेहरा. बेहद शरीर और चंचल. अठारह-उन्नीस साल के नवयुवक का चेहरा. भाषण-कला में दक्ष और गाने में माहिर. स्मृतियां किसी क्रम से नहीं आ रही हैं. बड़े ही बेतरतीब, क्रम-विहीन ढंग से कमाल भाई की बातें याद आ रही हैं.

कमाल भाई मुझसे चार-पांच साल ही तो बड़े थे. बचपन में उनसे मैं बहुत डरता था. क्या मजाल जो उनके हुक्म के खिलाफ कुछ कर सकूं. लेकिन भीतर-ही-भीतर जलता भी कुछ कम नहीं था. बड़ी ईर्ष्या होती थी उन्हें देखकर. गोरा-चिट्टा रंग, बड़ी-बड़ी आंखें, लम्बा-चौड़ा शरीर. बड़ा ही भव्य और आकर्षक व्यक्तित्व था उनका. उनके सामने मैं तो बिलकुल मरियल दिखाई देता था. आए दिन वह मुझे पीटते रहते थे. बड़ा क्रोध आता था मुझे. लेकिन उन पर कोई वश नहीं चलता था मेरा. अम्मा से आकर शिकायत करता तो वह भी कुढ़कर रह जातीं. अम्मा भी कमाल भाई का कुछ बिगाड़ नहीं सकती थीं. अब्बा से कुछ कहने की हिम्मत उनमें भी नहीं थी. अम्मा जानती थीं कि अब्बा कमाल भाई को कितना चाहते हैं. वह किसी से कमाल भाई के खिलाफ कुछ भी सुनने को तैयार नहीं थे. अम्मा को यह सब बहुत बुरा लगता था. पर वह खून का घूंट पीकर रह जातीं. दिल की भड़ास अक्सर मेरे सामने जरूर निकाल लेती थीं. कहतीं, "अल्लाह मियां समझिएं बाबू, हक कुछ ना बोले हैं. अल्लाह तो सब देखे है ना. कैसी जलंताही है यह सलीम की बहू. ऐसी सौतनी अल्लाह मियां हमारे भाग में ही लिखिन था. जैसी माई वैसा बेटा."

अम्मा और छोटी अम्मा में जैसे जन्म-जन्मान्तर की दुश्मनी थी. बस न चलता था कि एक-दूसरी को कच्चा चबा जातीं. अम्मा अब्बा के डर से बहुत कम बोल पातीं थीं. अब्बा का गुस्सा ही कुछ ऐसा था कि किसी को कुछ कहने की हिम्मत नहीं होती थी. उनके आते ही घर में सब लोगों को जैसे सांप सूंघ जाता था. पर छोटी अम्मा पर छोटे अब्बा का कुछ और नहीं

चलता था. अम्मा कहती थी : "जादू कर दीहिन है कमाल के नन्हियाल वाले सनीम पर. का मजाल जो कुछ कह सके बीबी से."

अम्मा मन-ही-मन कमाल भाई से बहुत जलती थी. एक बार जब कमाल भाई स्कूल के इम्तहान में फेल हो गए थे और मैं पास हो गया था तो अम्मा ने कहा था—"अल्लाह मियाँ घमड तोड़ दीहिन ना. जो सबको गिरावे उसको अल्लाह गिरावे."

और सच पूछिए तो मुझे भी बेहद खुशी थी कि कमाल भाई फेल हो गए. मेरे ईर्ष्या-भाव को इस घटना से बड़ी तृप्ति मिली थी. छोटी अम्मा के यहाँ उस रोज सब लोग बहुत उदास थे और कमाल भाई ने तो कई रोज तक अपनी शक्ल तक नहीं दिखाई थी. अब्बा को भी बहुत दुःख हुआ था और मेरे पास होने पर उन्हें जितना खुश होना चाहिए था उतना खुश वह नहीं हुए थे. अम्मा ने यह सब देखकर चुपके से कहा था—"खुश कैसे हों. लाडला भतीजा जो फेल हो गया है. इनका बस चले तो बेटे को भी फेल करा दें."

अम्मा की ये बातें उस समय मुझे बहुत अच्छी लगती थी. कमाल भाई के व्यवहार और उनके लाड़-प्यार के कारण मैं अन्दर-ही-अन्दर सुलगता रहा था. अब्बा कमाल भाई को जितना चाहते हैं उतना मुझे नहीं चाहते. यह सोचकर मैं ईर्ष्या से पागल हो उठता था.

ये पुरानी भूली-विसरी बातें इस समय अनायास ही याद आ रही हैं. तब ये कितनी महत्त्वपूर्ण लगती थीं. वक्त ने अब इन्हें कितना गैर अहम बना दिया है. कितनी हैरत होती है अपने आप पर कि बचपन में कितना फिजूल बातों को लेकर मैं ईर्ष्या भाव से पीड़ित रहता था.

अब्बा का जब देहांत हुआ था तो अम्मा के धीरज का बाँध जैसे एका-एक टूट गया था. छोटी अम्मा को देखते ही अम्मा ने कहा था—"लो अब तो कलेजा ठण्डा हो गया ना तुमरा." और छोटी अम्मा को जैसे साँप सूँघ गया था. एक शब्द भी तो न निकला था उनके मुँह से.

और जब छोटे अब्बा की मैयत पड़ी हुई थी तो छोटी अम्मा ने भी यही सब कहा था अम्मा से और अम्मा उसी तरह चुप रही थी जिस तरह छोटी अम्मा चुप रह गई थी.

और आज भी ऐसा ही हुआ था. अम्मा को देखते ही छोटी अम्मा फट पड़ी थी—"लो अब तो तुमरा कलेजा ठंडा हुआ ना. बहुत खटकता था ना मेरा लाल तुमरे आंख में." अम्मा खामोशी से यह सब सुनती रही थी.

"दो बरस हुए जब आया था कमाल. कहता था, 'बड़ी अम्मा यहाँ से जाने को जी नहीं चाहता. पर क्या करें मजबूरी है.' दो महीने रहा था बेचारा. कौन कहिस था हुआं जाने को. नसीब जल्ला कहीं का. सब कहते रह गए, न जाओ. किसी का कहना ना मानिस. बेचारी करम जल्ली बीवी और दो छोटे-छोटे बच्चों का हाल होहिए." अम्मा के शब्द मेरे कानों में पहुँच रहे हैं. शायद अम्मा मन-ही-मन पछतावा महसूस कर रही हैं. शायद मेरा ख्याल गलत है. अम्मा कोई पछतावा महसूस नहीं कर रही हैं. जैसे कमाल भाई से उनका जलना भी उसी तरह ठीक था जिस तरह उनकी मौत पर दुखी होना. दोनों स्थितियां शायद अपनी-अपनी जगह पर सहज थी.

कमाल भाई पिछली बार जाने लगे थे तो मैं भी गया था उन्हें स्टेशन तक छोड़ने. भाभी-बच्चों को वेटिंग रूम मे बिठाकर हम दोनों असिस्टेंट स्टेशन मास्टर के दफ्तर में चले गए थे. कमाल भाई को रेलवे पास में एंट्री करवानी थी. असिस्टेंट स्टेशन मास्टर सिंधी शरणार्थी था. पास देखते ही वह चौंक गया. "आप कराची में रहता है, क्या?" उसने पूछा.

"जी हां." कमाल भाई बोला.

"हम भी कराची से आया है. हमारा नाम लालवानी है. कराची स्टेशन के बाहर निकलते ही दायीं तरफ रफीक टी-स्टाल है ना. रफीक को हमारा सलाम बोलना. कहना लालवानी बहुत याद करता है. हम दोनों हैदराबाद का है. उसे बहुत-बहुत सलाम कहना. और कराची स्टेशन पर अब्दुस्सत्तार टी० सी० है. उससे कहना लालवानी मिला था. बहुत याद करता है."

बहुत देर तक वह कमाल भाई से कराची के बारे में पूछता रहा. "बन्दर रोड पर रायल रेस्तरां था. वह है या नहीं? डी० एस० ऑफिस में मिस्टर लतीफ हैड क्लर्क थे. अभी है या रिटायर हो गया. बहुत अच्छा आदमी था. हमारा बड़ा मदद करता था. मिल जाए तो हमारा सलाम

बोलना." इसी तरह के अनगिनत ऊट-पटांग सवाल करता रहा.

कमाल भाई उसके सवालों के जवाब में हां हूं करते रहे. फिर चुपके से हम दोनों वहां से खिसक गए.

"चलो जरा स्टेशन के बाहर चाय पी आएं." कमाल भाई बोले. मिट्टी के कुल्हड़ वाली चाय पीते हुए कमाल भाई ने कहा था :

"जानते हो कराची में ऐसी चाय पीने को जी तरस जाता है. ऐसी सोंधी चाय कराची में कहां नसीब. गया मे मुझे दो जगह की चाय सबसे ज्यादा पसन्द थी स्टेशन पर इस दुकान की चाय और शहर में कोतवाली के पास वासुदेव टी-स्टाल की चाय. इस बार वासुदेव टी-स्टाल बन्द देखा. लगता है वह कही बाहर चला गया."

वासुदेव टी-स्टाल बहुत दिनों से बन्द पड़ा था. मैंने यह जानने की कभी कोशिश नही की थी कि वासुदेव शहर में है भी या नही.

फिर कमाल भाई बोले थे—"जानते हो ख्वाज़ा, पाकिस्तान जाकर मैंने सख्त गलती की. अब्बा का कहा मान लेता तो अच्छा रहता. मेरी हालत धोबी के गधे की हो गयी है. न घर का न घाट का. सोचता हूं मुल्क का बटवारा न होता तो अच्छा था."

मैं कमाल भाई की बातें खामोशी से सुनता रहा था. वह बूढ़ों जैसी बातें कर रहे थे. अब यह सोचने से क्या फायदा. मुल्क का बटवारा हो चुका था और यह भी एक हकीकत थी कि कमाल भाई पाकिस्तान चले गए थे. *सांप जब निकल गया है तो लकीर को पीटते रहने का क्या लाभ.*

जब गाड़ी प्लेट फार्म पर सरकने लगी तो मैंने देखा कि लालवानी तेजी से भागता हुआ कमाल भाई के डिब्बे की तरफ आ रहा है.

प्लेटफार्म पर सरकती हुई ट्रेन के साथ लालवानी कुछ दूर तक दौड़ता रहा और चीख-चीखकर कहता रहा, "मेरा सलाम ज़रूर बोलना रफीक टी-स्टाल वाले को और अब्दुससत्तार को और मिस्टर लतीफ को. कहना लालवानी बहुत याद करता है तुम सबको. हमारा नाम याद रहेगा ना. लालवानी यानी रेड···" ट्रेन प्लेटफार्म से आगे निकल चुकी. कुछ दूर तक कमाल भाई का हिलता हुआ हाथ दिखाई देता रहा. फिर सारी ट्रेन एक लाल बिंदु में सिमट कर आंखों के सामने चमकती रही. और कुछ देर के

बाद यह लाल बिन्दु भी अन्धकार में विलीन हो गया. मैंने चारों तरफ एक नज़र डाली. प्लेटफार्म बिलकुल वीरान दिखाई दे रहा था, एक तरफ लालवानी खड़ा हाँफ रहा था. मैंने सोचा था, यह ज़िन्दगी भी अजीब चीज है. लालवानी जिसकी रगरग में कराची बसा हुआ है, गया की ज़मीन पर खड़ा हाँफ रहा है और कमाल भाई जो गया की हवाओं के लिए तरसते हैं कराची मे आजीवन रहने पर मजबूर हैं.

उस रोज स्टेशन पर कमाल भाई की बातें सुनकर मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ था. कमाल भाई की विचारधारा तो शुरू से ही मुस्लिम लीगी थी. 'पाकिस्तान लेकर रहेंगे' और 'कायदे आज़म जिन्दाबाद' के नारे लगाते मैं उन्हें देख चुका था. मुहम्मद अली जिन्ना जब गया आए थे और बहुत बड़ा जुलूस निकाला गया था तो आगे-आगे रहने वालों मे कमाल भाई भी थे. यह उन दिनों की बात है जब मुस्लिम लीग का असर तेजी से फैल रहा था और राजनीति के स्तर पर हिन्दू और मुसलमान बडी हद तक बँट चुके थे. पर दैनिक जीवन के स्तर पर सब-कुछ पहले की तरह चल रहा था. राजनीति की सतह पर हिन्दुओं को मुसलमानों से शिकायतें थीं और मुसलमानों को हिन्दुओं से. पर रोजमर्रा की ज़िन्दगी में पूरा सम्पर्क बना हुआ था. सोचता हूँ तो यह सारा झगडा मुझे अम्मा और छोटी अम्मा के झगड़े जैसा लगता है. तमाम शिकवे-शिकायतों और उतार-चढ़ाव के बावजूद अम्मा और छोटी अम्मा के सम्बन्धों में कभी ऐसी दरार नहीं पड़ी कि दोनों एक-दूसरे से बिलकुल अलग हो जाएँ.

हम लोगों के रिश्ते के एक भाई थे जो विचारधारा की दृष्टि से कौम-परस्त मुसलमान कहे जा सकते थे. यह राजनीति में सक्रिय भाग तो नहीं लेते थे लेकिन राजनीतिक मामलों और सवालों में बड़ी गहरी दिलचस्पी लेते थे. यह मुस्लिम लीग और पाकिस्तान की माँग के कट्टर विरोधी थे. उम्र मे मुझसे और कमाल भाई से बड़े थे. कांग्रेस, गांधी जी और मौलाना अबुल कलाम आजाद के बड़े भक्त थे. कमाल भाई से उनकी अक्सर बड़ी ज़ोरदार बहसें हुआ करती थी. इनका नाम तो अमहद इमाम था लेकिन बहुत से लोग इन्हें गाधी जी कहकर पुकारते थे. औरों की देखा-देखी हम लोग भी इन्हे गाधी भाई कहने लगे थे.

एक बार हमारे मुहल्ले में मुस्लिम लीग का कोई जलसा हुआ था. इसमें कमाल भाई ने इकबाल का मशहूर तराना 'चीनो अरब हमारा हिन्दुस्तां हमारा, मुस्लिम हैं हम वतन हैं सारा जहां हमारा' गाकर सुनाया था. कमाल भाई ने बड़ा अच्छा गला पाया था और उनके गाने की सब लोगों ने बहुत तारीफ की थी. जलसा ख़त्म होने पर कमाल भाई हमारे यहाँ आए तो गांधी भाई भी मौजूद थे. गांधी भाई ने शायद कमाल भाई को छेड़ने की खातिर कहा था :

"क्यों भाई कमाल, तुम्हें कोई और नज़्म गाने को नहीं मिली जो इकबाल का यह तराना गाने लगे. इकबाल फ़लसफ़ी हो सकते हैं लेकिन इंसान के दर्द को वह नहीं समझते."

"अजी आप क्या समझेंगे इकबाल की शायरी को."

कमाल भाई ने नाराज होकर जवाब दिया था. बात आई-गई हो गई थी. उस समय इकबाल की शायरी को समझने की योग्यता मुझमें नहीं थी. पर आगे चलकर जब मैं इकबाल की कविताओं और देश की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों को समझने के काबिल हुआ तो मैं भी उसी नतीजे पर पहुँचा जिस नतीजे पर गांधी भाई बहुत पहले पहुँच चुके थे. उस रोज़ गया स्टेशन पर कमाल भाई की बातें सुनकर मुझे यही लगा कि गांधी भाई ने इकबाल के बारे में ठीक ही कहा था. कमाल भाई खुद को इकबाल के साँचे में ढला हुआ मुसलमान समझते थे. तभी तो गया से अपना रिश्ता तोड़ते हुए उन्हें ज़रा भी हिचक नहीं हुई, पर क्या यह रिश्ता टूट सका ? उनका उदास चेहरा इस बात का साक्षी था कि गया से उनकी रूह का जो रिश्ता है वह कभी भी नहीं टूट सकता.

गांधी भाई ने एक बार कहा था : "इकबाल का सारा नज़रिया दरअसल इंसान-विरोधी है. हालांकि बज़ाहिर ऐसा दिखाई नहीं देता. लेकिन उनका 'मर्दे मोमिन' नीत्शे के अति मानव (सुपर मैन) के अलावा कुछ और नहीं है. नीत्शे ने हिटलर को जन्म दिया था. देखना इकबाल का 'मर्दे मोमिन' भी बड़ी तबाही लाएगा."

गांधी भाई और कमाल भाई में अक्सर लम्बी बहसें होती थीं कभी-कभी तो इनमें कटुता भी आ जाती थी. बहस में बहुत-से दूसरे लोग भी

शामिल हो जाते थे, बिचारे गांधी भाई हमेशा अकेले पड़ जाते थे. मुस्लिम लीग का विष इतना फैल चुका था कि गिनती के लोग ही इससे मुक्त रह सके थे. जहाँ कमाल भाई के पक्ष में दस-दस, बारह-बारह आदमी होते वहाँ गांधी भाई को अकेले ही इतने सारे वार सहने पड़ते.

देश-विभाजन से कोई साल डेढ़ साल पहले की बात है. टाउन-हाल में, कौम-परस्त मुसलमानों का कोई जलसा हो रहा था. बाहर से भी कुछ नेता आए हुए थे. मुस्लिम लीग ने जलसे में हुड़दंग करने के लिए अपने वालंटियर भेज दिए थे. इनमें कमाल भाई भी थे. कमाल भाई और गांधी भाई की नोंक-झोंक सुनते रहने के कारण राजनीति में मेरी भी कुछ रुचि हो गई थी. मैं भी इस जलसे में गया था. जैसे ही जलसे की कार्रवाई शुरू हुई, लीग के वालंटियरों ने हुड़दंग मचाना शुरू कर दिया. गांधी भाई और कुछ दूसरे लोगों ने उन्हें रोकने की कोशिश की. तू-तू मैं-मैं से बढ़कर बात हाथापाई तक पहुँच गयी. इसी बीच किसी ने बिजली का मेन स्विच ऑफ कर दिया और जलसा दंगे में बदल गया. गांधी भाई को लीग के वालंटियरों ने बुरी तरह पीटा था. वह अधमरे से हो गए थे. कई हफ्ते तक बिस्तर पर पड़े रहे थे. कमाल भाई ने कहा था, "गद्दारों का यही अंजाम होता है. कौम से गद्दारी करेंगे तो क्या कौम फूलों के हार पहनाएगी." यह मात्र संयोग की बात थी कि गांधी भाई की जान बच गई थी. लीग के वालंटियरों ने तो अपनी समझ से उन्हें जान से मार डाला था.

कमाल भाई और गांधी भाई की बहस आमतौर पर एक ही दायरे में घूमती थी. कमाल भाई कहते : "मुसलमानों की संस्कृति, भाषा, खान-पान, धर्म, रीति-रिवाज सब-कुछ हिन्दुओं से अलग हैं. वे अलग कौम हैं. अखंड भारत में उनकी संस्कृति सुरक्षित नहीं रह सकती."

गांधी भाई ने कहा था : "धर्म को छोड़कर हिन्दुओं और मुसलमानों में कोई अन्तर नहीं है. जो अन्तर दिखाई देता है वह केवल बाहरी है. इससे अधिक अन्तर तो खुद मुसलमानों के विभिन्न वर्गों और हिन्दुओं के विभिन्न वर्गों में दिखायी दे जाएगा. क्या तुमने कभी गौर किया है कि आम मुसलमान की जिन्दगी जन्म से लेकर मौत तक जिन रीति-रिवाजों के दायरे में घूमती है वे आम हिन्दू से जरा भी अलग नहीं हैं. जन्मोत्सव,

छठी की रस्म, शादी-ब्याह के गीत, यहां तक कि मरने के बाद बहुत से सस्कार बिलकुल वैसे ही हैं जैसे कि हिन्दुओं में. दो कौम का नज़रिया बहुत बड़ा जाल है जिसमें भोले-भाले मुसलमानों को फांसने की कोशिश की जा रही है. इसके नतीजे बहुत खतरनाक होंगे."

गांधी भाई के तर्कों में बड़ा वजन था. मैं जो साम्प्रदायिकता और मुस्लिम लीगी विचारधारा के विष से स्वय को मुक्त रख सका तो इसका कारण शायद गांधी भाई के यही ख्यालात थे जो मुझे सही लगते थे. आश्चर्य है कि कमाल भाई और उन जैसे हजारों लाखों मुसलमानों को इनमें कोई सचाई नजर नही आती थी. लेकिन यह भी कैसी विडम्बना थी कि गाधी भाई जैसा इन्सान जो साम्प्रदायिकता का कट्टर विरोधी था, जो मुस्लिम फिरकापरस्तों के हाथों एक बार मरते-मरते बचा था, जिसने *साम्प्रदायिकता की तेज आंधी में भी साम्प्रदायिक एकता का दिया अपने* कमजोर हाथों से पकड़ रखा था वह देश-विभाजन के बाद एक साम्प्रदायिक दगे में किसी हिन्दू के हाथों मार डाला गया था.

कमाल भाई के बारे में सोचते हुए आज ये सब बातें मुझे याद आ रही है. स्मृतियो का जुलूस एक बिन्दु पर पहुंचकर रुक-सा गया है. गया रेलवे स्टेशन पर पाकिस्ताम को जाने वाली स्पेशल ट्रेन खचाखच भरी हुई है. जितने आदमी अन्दर हैं उससे कही ज्यादा प्लेटफार्म पर हैं. जाने वालों मे कमाल भाई भी हैं. हजारों आदमी इन्हें विदा करने आए हैं. इन्होने अपनी इच्छा से उस जमीन को हमेशा के लिए छोड़ने का फैसला किया है जिसे छोड़ने की शायद इन्होंने कुछ दिन पहले कल्पना भी नही की थी. ये सब स्वेच्छा से जा रहे हैं लेकिन इनके चेहरों पर, हवाइयां उड़ रही हैं. इन्हें अपने निर्णय पर कोई पछतावा, कोई दुःख, कोई ग्लानि नहीं है. इन्हें पूरा विश्वास है कि इनका फैसला सही है. फिर भी उनके दिल एक अजीब-सी दहशत से भरे हुए हैं. इनके दिमाग आश्वस्त हैं पर दिल किसी अनजाने डर से सहमे हुए है. गांधी भाई भी स्टेशन पर मौजूद है. ट्रेन प्लेटफार्म पर सरकने लगती है. हजारों आंखें ट्रेन को जाते देखती रहती हैं, और जब

तक ट्रेन दृष्टि से ओझल नहीं हो जाती वे उसका पीछा करती रहती हैं. और तब एक अजीब-सी उदासी और वीरानी का एहसास सब पर हावी होने लगता है. जैसे आने वालों से वे हमेशा-हमेशा के लिए कट चुके हैं. गांधी भाई फूट-फूटकर रोने लगते हैं. सिसकियों में डूबे हुए उनके शब्द आज मेरे कानों में गूंज रहे हैं : "इन्हें वतन कभी नसीब नहीं होगा. बनी इसराइल की तरह ये हमेशा भटकते रहेंगे. और अपनी मिट्टी और हवाओं के लिए तरसते रहेंगे." कमाल भाई के शब्द मेरे कानों में गूंजने लगते हैं. उन्होंने कहा था : "दिन तो रोजी के झमेले में किसी तरह बीत जाता है. लेकिन रात के सन्नाटे में एक अजीब पर असरार वीरानी का एहसास छाने लगता है. एक अजीब अस्पष्ट सा सवाल दिल और दिमाग पर हावी होने लगता है, जैसे फिर वहीं लौट जाना है जहां से आए थे. लेकिन अब और कैसे ? इन सवालों के जवाब नहीं मिलते."

रिवाज के मुताबिक चौथे दिन "कुल" हुआ. उसी बैठक में जहां बरसों पहले छोटे अब्बा का "कुल" हुआ था कमाल-भाई का "कुल" भी हुआ. अगरबत्तियां जलाई गईं. कुरान शरीफ की तिलावत हुई, फिर मीलाद हुआ. मरने वाले की रूह की शांति के लिए दुआएं मांगी गईं, फिर गरीबों को खाना खिलाया गया. दो पहर होते-होते "कुल" की सारी गहमा-गहमी खत्म हो गई. मैं बैठक में अकेला बैठा जिन्दगी के उतार-चढ़ाव के बारे में सोचता रहा. वर्षों पहले जब छोटे अब्बा मरे थे या उससे भी पहले जब अब्बा का इंतकाल हुआ था तो उनके कुल में भी यही सब कुछ हुआ था. पर इसके अलावा भी कुछ हुआ था जो कमाल भाई के "कुल" में हम लोग कर सकते थे. हम सब "कुल" के दिन शाम को अगरबत्ती और फूल की चादर लेकर अब्बा और छोटे अब्बा के मज़ार पर गए थे और फातिहा पढ़कर लौट आए थे. पर कमाल भाई की कब्र पर हम लोग कहां जा सकते थे. वह तो हजारों मील दूर थी शायद यह दूरी इससे भी ज्यादा थी—ऐसी दूरी जो मीलों में नहीं नापी जा
मैं भावुकता की तरंगों में बहकर सोचने लगा कमाल भाई ने

आखिरी घड़ियों में जाने अपने घर को, अपने बचपन को, गया के गली-कूचों को, अपनी माँ को, अपने भाई-बहनों को किस-किस तरह याद किया होगा. कौन कह सकता है, उनके दिमाग में यादों के कितने दिए जले-बुझे होंगे. या शायद उन्हें इन बातों की याद तक न आई हो. मौत की खौफनाक परछाइयों ने इन स्मृतियों को भी निगल लिया हो.

उसी रोज शाम की डाक से भाभी का खत आया. लिखा था—उन्हें जैसे मालूम हो गया था कि अब नहीं बचेंगे. जब से बीमार पड़े थे यही कहते थे—मुझे गया ले चलो अम्मा के पास. मैं कराची के रेगिस्तान में मरना नहीं चाहता. मुझे वहीं दफ्न करना फल्गू नदी के उस पार कब्रिस्तान में जहाँ अब्बा की कब्र है और बड़े अब्बा की·

एकाएक मुझे लगा जैसे वक्त ने अपना दामन समेट लिया है और मौलवी साहब की कड़कदार आवाज मेरे कानों से टकरा रही है :

"हजरत यूसुफ ने अपनी जिन्दगी का बड़ा हिस्सा मिस्र मे ही गुजारा और जब उनकी उम्र एक सौ दस साल को पहुँची तो उनका इन्तकाल हो गया हजरत यूसुफ ने इन्तकाल से पहले अपने खानदान वालों से यह वायदा कराया कि वे उन्हें मिस्र की जमीन में दफ्न नहीं करेंगे, बल्कि जब खुदा का यह वायदा पूरा हो कि बनी इसराइल दुबारा फलस्तीन यानी अपने पुरखों की जमीन में वापस हों तो उनकी हड्डियाँ वे अपने साथ लेते जाएँगे और वहीं मिट्टी के सुपुर्द कर देंगे. चुनाचे उन्होंने वायदा किया और हजरत यूसुफ का इन्तकाल हो गया तो उनको ममी करके तावूत में हिफाजत से रख दिया और जब हजरत मूसा के जमाने मे बनी इस्राइल मिस्र से निकले तो इस तावूत को भी अपने साथ लेते गए और पुरखों की जमीन में ले जाकर इसे दफ्न कर दिया."

"हजरत यूसुफ ने ऐसा क्यो कहा मौलवी साहब ?" कमाल भाई ने पूछा था.

"हजरत यूसुफ आखिर को इन्सान थे भाई. मिस्र मे उन्होने बड़ी शान से हुकूमत की. इज्जत, शुहरत, दौलत. ऐसी कौन सी चीज थी जो उन्हें वहाँ नहीं मिली. लेकिन वतन फिर वतन है. मिट्टी खींचती है भाई. तुमअभी इसे नहीं समझोगे" मौलवी साहब बोले थे.

चौथा ब्राह्मण

••

जी हाँ मैं भी आपको बराबर देखता रहा हूं. मेरी तरह 'रैम्बुल' का यह कोना आपको भी बहुत पसन्द है न! आपने बिलकुल सही कहा है कि इस कोने में भीड़ के बीच में भी एकान्त-सा लगता है. लेकिन क्या यह विशेषता आज के इन्सान की भी नहीं है? मैं समझ गया था. एकान्त में आपका मतलब उस शान्ति से है जो एकान्त में आदमी को मिलती है.

यद्यपि यह प्रश्न भी विचारणीय है कि एकान्त में आदमी को शांति मिलती भी है या नहीं. भीड़ में अक्सर हमारा दिमाग जमी हुई बर्फ की तरह रहता है—स्थिर और निष्क्रिय. आपने बात का रुख मनोविज्ञान की ओर मोड़ दिया है. जी, हाँ मैं भी मानता हूँ कि अचेतन के स्तर पर आदमी का मन हमेशा क्रियाशील रहता है. लेकिन मैं अचेतन मन की भूलभुलैयों की बात नहीं कर रहा था. मेरा मतलब उस विचार-क्रम से था जो चेतन मन के स्तर पर चलता रहता है और जिसकी जानकारी मनुष्य को स्पष्ट रूप से होती रहती है. जी हाँ, आपको भारतीय संस्कृति और रहन-सहन की पूरी तसवीर दिल्ली में नहीं मिल सकती. लेकिन यह तसवीर त कहीं भी, किसी एक जगह पर नहीं मिल सकती. भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व? खेद है कि मैं आपको इसके बारे में कुछ अधिक नहीं बता पाऊँगा.

लगता है, आपकी इस विषय में बड़ी रुचि है. आपने इस विषय पर पुस्तकें पढ़ी होंगी. मैं तो सिर्फ इतना कह सकता हूं कि हमारी संस्कृति बहुत पुरानी है. इसके अनगिनत पहलू हैं जो अक्सर परस्पर विरोधी भी दिखाई देते हैं लेकिन ये तमाम पहलू मिलकर अनेकता में एकता का दृश्य

प्रस्तुत करते हैं. देखिए, मेरा अनुमान ठीक था न. आपके होठों पर खिंची हुई मुस्कराहट की लकीर मेरे अन्दाजे को यही साबित कर रही है. जी हां, ये बातें आपने अपने देश में ही, भारत में कदम रखने से पहले ही जरूर सुनी होंगी. हम लोग तो रोज ही यहां यह सब सुनते रहते हैं. क्या यह भी इस बात का सबूत नही है कि दुनिया अब वास्तव में बहुत छोटी हो गयी है? मैं कोई दार्शनिक नही हूं. कोई विचारक भी नही. मैंने मनुष्य और उसके अस्तित्व और जीवन की पेचीदा गुत्थियों के बारे में कभी सोचने की जरूरत महसूस नही की. लेकिन मेरी तुच्छ राय में दुनिया का इतना सिमट जाना आदमी के लिए अच्छा नही हुआ. उसकी जिज्ञासा, जो उसके जीवन को रोचक तत्त्वों से भर देती थी, अब लुप्त होती जा रही है. देखिए न, मैं रोज आपको सामने बैठे देखा करता था तो आपके बारे में जानने की इच्छा मन में उभरती थी. लेकिन आपसे मिलकर यह इच्छा स्वाभाविक रूप से खत्म होती जा रही है. इसके लिए आप क्षमा करेंगे. लेकिन मेरे विचार मे जीवन को सह्य और एक हद तक रुचिकर बनाने के लिए जिसका बहुत महत्त्व है. जी हां, आपका कहना भी सही है. अभी जाने कितनी बातें हमसे गुप्त हैं. जीवन और प्रकृति के कितने ही रहस्यों का अभी निरावरण होना है. दूर क्यों जाइए. हम दोनों ने इतनी देर में एक-दूसरे को जिस हद तक जाना है उसकी हैसियत उतनी भी तो नही है जितनी बूंद की समुद्र में होती है.

आप मेरी टांगों की तरफ देख रहे हैं. आपको आश्चर्य होगा कि मेरी टांगें इस तरह हिलती क्यों रहती है. वास्तव में मेरे लिए भी यह कुछ कम परेशानी की बात नही है. असभ्य, उजड्ड, गँवार—जाने क्या-क्या आप दिल में मुझे समझ रहे होंगे. लेकिन क्या करूं? यह मेरी बहुत पुरानी आदत है—बचपन की आदत. बड़े होकर हम बचपन की आदतें एक-एक करके छोड़ते जाते हैं. लेकिन कुछ आदतें कम्बख्त इतनी ढीठ होती है कि सभ्यता की मोटी-से-मोटी तह का भी उन पर कोई असर नही होता. शायद टांगें हिलाना मेरी ऐसी ही आदत है. मैंने इसे छोड़ने की बहुत कोशिश की. बचपन मे मुझे इसके लिए कड़ी सजाएं दी जाती थी. मेरा बाप मुझे डांटता-फटकारता. स्कूल का मास्टर छड़ी बरसाता. लेकिन

देखिए, मैं आज भी आपके सामने अपनी टाँगें उसी तरह हिला रहा हूँ.

जी हाँ, आपका विचार सही है. हमारी शिक्षा-प्रणाली त्रुटिपूर्ण है. यह हमें डंडे के जोर से फरिश्ता बनाना चाहती है जबकि आदमी फरिश्ता बन ही नहीं सकता. इस मूर्खतापूर्ण प्रयत्न में वह हमें कुछ अधिक शैतान जरूर बना डालती है. आपको मेरी बातें अच्छी लग रही हैं. इसके लिए धन्यवाद. हालाँकि मैं दिलचस्प बातें बहुत कम करता हूँ. मैं अधिकतर काम की बातें ही करता हूँ. और काम की बातें दिलचस्प कहाँ होती हैं.

जी, क्या कहा आपने ? आप मेरे व्यक्तिगत जीवन के बारे मे जानना चाहते हैं. जरूर पूछिए. मैं क्यों बुरा मानूंगा. अच्छा मुझे ख्याल आ गया. आपके देश में व्यक्तिगत जीवन के बारे मे प्रश्न करना असभ्य आचरण समझा जाता है, लेकिन हमारे यहाँ इसके विपरीत है. बेतकल्लुफी और *अनौपचारिकता हम हिन्दुस्तानियों की मुख्य विशेषता है. आप भारत में* कब से हैं ? दो महीनों से ? यद्यपि यह अवधि कुछ अधिक नहीं है, फिर भी आपने यह अन्दाजा तो कर ही लिया होगा कि हम हिन्दुस्तानी अपनी व्यक्तिगत बातें अपरिचितो को बताने मे कोई झिझक या शर्म महसूस नहीं करते. इसी तरह उनके व्यक्तिगत मामलों में दखल देना भी हम अपना जन्मजात अधिकार समझते हैं. आपको हम लोगों की यह बेतकल्लुफी और अनौपचारिकता अच्छी लगती है ? क्या सचमुच, या आप मेरी खातिर ऐसा कह रहे हैं ? जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है सैद्धांतिक दृष्टि से मुझे यह बात अच्छी नहीं लगती, यद्यपि स्वयं मैं भी ऐसी हरकत करता हूँ. दूसरो के मामलो से आखिर हमें क्यों दिलचस्पी हो ? जी नहीं, मेरा सम्बन्ध किसी सम्पन्न परिवार से नहीं है. थोड़ा-बहुत धन जो मेरे पास है उसका कोई अंश मुझे घर से नहीं मिला है. सब कुछ मैंने स्वय ही हासिल किया है. जी हाँ, आपने सही कहा. मैं बिलकुल सैल्फ-मेड हूँ.

लेकिन ठहरिए, क्या कोई आदमी दरअसल सैल्फ-मेड हो सकता है. मैं अपने बचपन मे अब तक की स्थितियों पर नजर डालता हूं तो अपने बारे में ये शब्द मुझे अच्छी-खासी फबती लगते हैं और सिर्फ अपने बारे में ही नहीं, उन सब लोगों के बारे मे जिन्हें सैल्फ-मेड समझा जाता है. क्षमा करें. शायद आपको मेरी बात बुरी लग रही हो क्योंकि मैं नहीं जानता कि

आप इस श्रेणी में आते हैं या नहीं. क्या कहा आपने ? अमेरिका का हर आदमी सैल्फ-मेड होता है ? वहां व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए पूरी स्वतंत्रता प्राप्त है. जी हां, मुझे मालूम है वहां ऐसी ही स्थिति है. यही स्थिति छोटे-पैमाने पर हमारे देश में भी है. लेकिन मैं जिस तथ्य की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता था वह यह है कि आदमी को तरक्की की ऊंचाई पर ले जाने में उसके अलावा और भी अनेक व्यक्तियों का हाथ होता है. मैं जीनियस की बात नहीं कर रहा हूं. जीनियस और पागल को मैं एक श्रेणी में रखता हूं क्योंकि दोनों ही अकेले अपने रास्ते पर चलते रहते हैं. उन्हें किसी दूसरे आदमी के सहारे की जरूरत नहीं होती. मैं तो उन सम्भ्रांत व्यक्तियों की बात कर रहा हूं जो समाज में बड़े आदमी माने जाते हैं. गलतफहमी ही सही, लेकिन मैं भी स्वयं को इसी वर्ग का एक व्यक्ति समझता हूं.

आपको मेरी बातों में शायद उलझाव महसूस हो रहा है. शायद आपका ख्याल ठीक हो. मैं भाषण कला में अधिक निपुण नहीं हूं. मेरे मित्र मेरे बारे में कहते हैं कि मैं सौ फी सदी असली आदमी हूं. जी नहीं, मैं दिल्ली का रहने वाला नहीं हूं. जी हां, मैं बहुत दिनों से यहां रह रहा हूं. वास्तव में आपको दिल्ली में दिल्ली के बहुत कम लोग मिलेंगे. यह तो उखड़े हुए लोगों का शहर है. जी हां, मेरा संकेत पाकिस्तान से आए हुए प्रस्थापित व्यक्तियों की ओर भी है. लेकिन उखड़े हुए लोगों में एक बड़ी संख्या उन लोगों की भी है जो किसी और देश से नहीं आए, बल्कि इसी देश के अन्य भागों से आकर यहां रह रहे हैं. जी हां, यहां के बहुत सारे असली निवासी जो सदियों से यहां रह रहे थे, अपनी संस्कृति यहां छोड़ कर पाकिस्तान चले गए हैं. इसी तरह पाकिस्तान के लाखों आदमी अपनी संस्कृति वहां छोड़कर यहां आ गए हैं.

जी, क्या कहा आपने ?

वे लोग अपनी संस्कृति अपने साथ ले गए होंगे ? शायद आपका ख्याल सही हो. मैं आपसे पहले ही कह चुका हूं कि संस्कृति और सभ्यता के विषय में मेरी कोई रुचि नहीं है. लेकिन मैं तो यही समझता था कि संस्कृति मकान या वृक्ष की तरह होती है जिसे एक

दूसरी जगह नही लगाया जा सकता. मैं अभी आपसे उन लोगों के बारे में कह रहा था जो किसी दूसरे देश से नही आए. इसी देश के किसी हिस्से से आकर यहाँ रह रहे हैं. ये भी खुद को उखड़ा हुआ महसूस करते है. यह कितनी अजीब बात है कि एक देश के रहने वाले अपने ही देश के किसी हिस्से में खुद को अजनबी और निर्वासित महसूस करें. तो आपके देश में भी यही स्थिति है ? मेरा भी यही ख्याल था. दुनिया के तमाम बड़े शहर बुनियादी तौर पर एक जैसे होते हैं. देखिए न, मैं जब एक छोटे कस्बे में रहता था तो कलकत्ता, और बम्बई दिल्ली जैसे शहरों की कल्पना इस तरह करता था जैसे इन शहरो में मेरे लिए कोई खजाना छिपा हुआ हो. लेकिन अब जब मैं इन सब बड़े शहरों में रह चुका हूं तो मुझे कोई भी खास बात नजर नही आती इनमें. मैं जब बहुत-से लोगों को न्यूयार्क, पेरिस या लन्दन की ओर लालसा-भरी दृष्टि से देखता हूँ तो मुझे अपना जमाना याद आ जाता है. जी हां, मैं भी कभी इन बड़े शहरों को अपनी आशाओं अभिलाषाओं का केन्द्र मानता था. लेकिन अब शायद मैं असलियत की तह तक पहुँच चुका हूँ, शायद इसीलिए न्यूयार्क या पेरिस जाने की कोई उमग अब दिल मे महसूस नही करता. सोचता हूँ इन शहरों मे अपेक्षाकृत अधिक भीड़ रहती होगी, कुछ अधिक ऊँची इमारतें होंगी और इसी अनुपात मे लोग कुछ ज्यादा ऊब और कुछ अधिक सत्रास अनुभव करते होंगे. लेकिन, आप यह न समझें कि मैंने दुनिया के इन बड़े शहरों मे न जाने की कोई प्रतिज्ञा कर रखी है. जी नही, मैंने ऐसी कोई प्रतिज्ञा नहीं की. मैं उन्नति करना चाहता हूं. अपनी उन्नति के लिए कोई प्रकाश-स्तम्भ मुझे इन शहरो में नजर आया तो मैं जरूर जाऊँगा.

आपको मेरी बातें सुनकर शायद निराशा हो रही होगी. आपने सोचा भी न होगा कि किसी हिन्दुस्तानी के मुह से आपको यह बातें सुनने को मिलेंगी. आप कितनी सुन्दर कल्पनाएँ लेकर हमारे देश मे आए हैं. हमारी संस्कृति और सभ्यता में आपके लिए कितना आकर्षण है जिसने आपको हजारों मील की यात्रा करके यहाँ आने पर बाध्य किया है. और मैं उस शीशमहल को जिसकी चमक-दमक और आभा को आपने इतनी दूरी पर रहते हुए भी अपने दिल में जगह दी है, अपने एक ही प्रहार से तोड़ता ,

बूंद भी न टपके तो आदमी भाग्यवाद के अलावा और किस चीज का सहारा ले सकता है. बहुत दिनों तक पेड़ के पत्ते-पत्तियों से हम लोग पेट की आग बुझाते रहे. लेकिन जब ये भी गायब हो गए और गाँव के कुएँ-तालाब भी सूख गए तो गाँव वालों के सामने गाँव छोड़ने के अलावा और कोई भी रास्ता न रहा. लेकिन यह भी कोई सरल कार्य न था. सब लोग जानवरों की खुराक खा-खाकर इतने दुबले और कमजोर हो गए थे कि दो कदम चलना मुश्किल था.

मेरी माँ बहुत बीमार थी. भूख प्यास और उस पर से बीमारी, उस का साथ चलना सम्भव नहीं था. मेरे बाप के सामने दो ही रास्ते थे. गाँव में माँ के ख्याल से रुका रहे और उसके साथ-साथ स्वयं को और मुझे भी मौत का कौर बनने दे. दूसरा रास्ता यह था कि माँ को उसके हाल पर छोड़कर और मुझे साथ लेकर गाँव से निकल पड़े. शायद बचने की कोई सूरत निकल आए.

उस जमाने की याद एक धुंध की तरह मेरे मन से चिपककर रह गई है. और इस धुंध को चीरकर दो फटी-फटी वहशतनाक आँखें मेरे सामने कौंध की तरह चमक उठती हैं. आप समझ गए होंगे ये आँखें किसकी हो सकती हैं. जी हाँ, ये मेरी माँ की आँखें थीं. आप आश्चर्य करेंगे कि माँ की कल्पना करते समय इन दो आँखों के मुझे उसके शरीर का और कोई अंग दिखाई नहीं देता. उन आँखों में संसार-भर की भावनाएँ सिमट आई थीं. इनमें प्रेम था, साथ ही घृणा भी. उनमें विवशता थी. साथ ही एक अजीब शक्ति भी जो मानव-सम्बन्धों के वास्तविक बोध से पैदा होती है. उनमें भर्त्सना भी थी और सराहने का भाव भी. उनमें स्वार्थ और नीचता की निन्दा भी थी और उसको समझने की एक सहानुभूतिपूर्ण चेष्टा भी. उनमें भूख की तड़प भी थी और मृत्यु के आलिंगन की तृप्ति भी. मैं सच कहता हूँ, उन आँखों को शब्दों की पकड़ में लाना असम्भव है. शब्दों की शक्ति सीमित होती है. वे असलियत की एक झलक ही दिखा पाते हैं, उस की पूरी तसवीर पेश नहीं कर सकते.

हमारे देश में सूखा और अकाल आए दिन पड़ता रहता है. लेकिन मैं

जिन दिनों की बात कर रहा हूं वे बड़े संकट के दिन थे. उन दिनों आपके देश से हमारे लिए गेहूं भी नहीं आता था. हमारे भाग्य के मालिक अंग्रेज थे जिन्हें हमारी जिन्दगी और मौत की कोई फिक्र नहीं थी. जी हां, इसीलिए तो अब हम आंखें बन्द करके आपके महान देश का अनुकरण करते हैं—लिबास में, रहन-सहन में, विचारों में, साहित्य में कला मे. हम कृतघ्न नहीं हैं. जो हमारा उपकार करते हैं उन्हें हम हमेशा याद रखते हैं.

देखिए मैं फिर बहक गया. मैं आपको अपने जीवन की एक घटना सुना रहा था न. यद्यपि इसे घटना कहना कहां तक सही है, मैं नहीं जानता. मां को चारपाई पर पड़ा छोड़कर जब हम लोग घर से निकले तो गांव में मरघट का-सा सन्नाटा छाया हुआ था. हम लोग निढाल कदमों से चल कर जब सड़क पर पहुंचे तो वहां रेंगते हुए आदमियों की भीड़ दृष्टि सीमा तक फैली हुई थी. कितने ही लोग भूख-प्यास से निढाल होकर जमीन पर पड़े हुए थे. कितने ही लोग जिनमें स्त्रियां भी थीं, पुरुष भी और बच्चे भी, एड़ियां रगड़-रगड़ कर जान दे रहे थे.

क्या आपने कभी सोचा था कि आपके सामने बैठा हुआ यह आदमी ऐसे दिन-रात भी देख चुका है? इसीलिए मैं कहता हूं कि किसी इन्सान को देखकर उसके बारे में अन्दाजा ही लगाया जा सकता है, निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता.

मेरा बाप भी न बच सका. जिस जिन्दगी की खातिर उसने [illegible] मां को मौत के हवाले किया था वह जिन्दगी उसके पास भी न रह [illegible] जी नहीं, मैं अपने बाप को अत्याचारी नहीं मानता. उसने विशिष्ट [illegible] स्थिति में अपनी विवेक-शक्ति के अनुसार शायद सही फैसला [illegible] हम इन्सानों के साथ एक दिक्कत यह भी है कि दूसरों के बारे [illegible] करते समय हम केवल अपने दृष्टिकोण को सामने रखते हैं.

आप सोच सकते हैं कि गरीबी और भूख के कड़वे [illegible] का बहुत हमदर्द बना दिया होगा, लेकिन ऐसी कोई [illegible] नहीं हुई. वास्तव में एक ही घटना का असर विभिन्न [illegible] अलग होता है. इतिहास में ऐसे शासकों की कमी [illegible]

घोर निर्धनता और कष्ट में बीता था लेकिन जिन्होंने सत्ता मिलने पर जनता पर सबसे अधिक अत्याचार किया. आपने महात्मा बुद्ध के बारे मे पढ़ा होगा. उनकी परवरिश ऐश्वर्य और सुख-समृद्धि के वातावरण मे हुई थी. लेकिन दूसरे आदमियों के दु:खो ने उनको इतना बेचैन कर दिया कि ससार को त्यागकर,वह निर्वाण प्राप्त करने की खातिर जगलो मे घूमने लगे.

हाँ तो मैं आपको अपनी प्रतिक्रिया के बारे मे बता रहा था. गरीबी और आर्थिक कष्ट के कटु अनुभव ने,मुझे अधिक-से अधिक धन हासिल करने के उन्माद का शिकार बना दिया. लेकिन शायद इसमें सिर्फ गरीबी का हाथ न था, क्योंकि भूखों मरने की जिस स्थिति से मैं गुजरा था उस का मुझे फिर कभी सामना नही करना पड़ा. लेकिन इस आजमाइश से निकलकर मुझे एक और ही माहौल मे रहना पडा जहाँ मुझे सब प्रकार क भौतिक सुख-सुविधाएँ प्राप्त थी किन्तु जहाँ पग-पग पर मेरे अहकार को ठोकरो का सामना करना पड़ता था.

मेरा बाप जब मुझे सडक पर असहाय छोड़कर संसार से चल बसा तो मेरी निर्णय शक्ति खत्म हो चुकी थी. पाँच-छह बरस के बच्चे मे वैसे भी सोचने समझने की क्या शक्ति होती है. आपको आश्चर्य होगा कि बाप की मौत पर मेरी आँखों से आँसू की एक बूंद भी न टपकी. हृदय की कोमलता भी उन्ही लोगों में होती है जो जीवन की सुविधाओं से परिचित होते हैं. बस, मुझे इतना याद है कि मेरा बाप सड़क के किनारे बेजान पड़ा था और भूखे-नगे इंसानो का एक जुलूस गुजर रहा था. इसके बाद मुझे किसी बात का होश नही रहा.

जब मैं दुबारा होश की दुनिया मे वापस आया तो दृश्य बदल चुका था. मैं एक मुलायम गदीले बिस्तर पर लेटा हुआ था और एक बूढ़े आदमी का वरदहस्त मेरे सिर पर रखा हुआ था. आप विश्वास कीजिए उस समय इस हाथ ने मुझे संतुष्टि, तृप्ति और सुरक्षा का जो एहसास दिया था वह कभी अपने बाप के हाथ से मुझे हासिल नहीं हुआ था. इसीलिए मैं कहता हूँ कि समस्त मानव सम्बन्ध और रिश्ते हमारे लिए केवल इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हैं कि वे हमें कहाँ तक सन्तुष्टि और सुरक्षा प्रदान करते हैं.

दूसरे शब्दों में हम इन सम्बन्धों की उसी हद तक कदर करते हैं जिस हद तक ये हमारे लिए उपयोगी साबित होते हैं.

यह बूढ़ा आदमी, जो उस समय मेरे लिए मुक्तिदाता से कम नहीं था, बहुत धनी व्यक्ति था. उसके सिर्फ एक लड़की थी जो उम्र मे मुझसे बहुत बड़ी थी. यह बहुत चचल और शरीर लड़की थी. शायद आम मानव-सुलभ सहानुभूति के अलावा, किसी लड़के का न होना ही वह कारण था जिसने मुझे इस घर में पहुँचा दिया था. यहाँ मुझे हर तरह का आराम मिला. जो गिजा खाने को और जो कपड़ा पहनने को मिला उसकी कल्पना मैंने कभी स्वप्न में भी नहीं की थी. लेकिन आप जानते हैं कि मनुष्य कभी भी अपनी परिस्थितियों से सन्तुष्ट नहीं होता. जिन्दगी का कोई न कोई कोना खाली रह जाता है. यह शरीर लड़की, जो नए रिश्ते से मेरी बड़ी बहन होती थी,मेरे लिए मुसीबत बन गई. इतने दिनों तक भूख की तकलीफ सहते रहने के कारण अब मुझे खाने का मौका हो गया था. मैं इतना ज्यादा खाता था कि लोगों को आश्चर्य होता था. घरवालों का ख्याल था कि जितनी खुराक मैं अकेला खा लेता हूँ उतनी तीन-चार आदमी भी मिलकर नहीं खा सकते. लेकिन मेरी हालत यह थी कि इतना अधिक खाने के बाद भी मन नहीं भरता था. पेट भर जाता था, लेकिन आँखों की प्यास नहीं बुझती थी. हफ्तों यही हालत रही. धीरे-धीरे खाने की यह हवस कम होती गई. लेकिन इसके बाद भी जब कभी कोई खाने की चीज मेरे सामने आती तो अनायास मेरी आँखें चमकने लगती. मैं इस स्थिति पर काबू पाने की बहुत कोशिश करता लेकिन सफल नहीं होता था.

मेरे सरक्षक को, जिसे अब मैं अपना बाप समझता था, मेरी यह आदत बहुत बुरी लगती थी. समझा-बुझाकर वह थक गया तो उसने डॉट-डपट शुरू की. इसी तरह टाँगें हिलाना भी मेरी ऐसी आदत थी जिस पर उसे बहुत गुस्सा आता था. लेकिन ये दोनों आदतें कुछ इस तरह मेरे स्वभाव का अंश बन गई थीं कि मैं इन्हें छोड़ न सकता था. कम्बख्त लड़की भी मुझे बहुत तंग करती थी और मेरी इन आदतों को लेकर अक्सर मेरा मजाक उड़ाया करती थी. धीरे-धीरे यह ख्याल मेरे दिल में जड़ पकड़ने लगा कि इस घर में मेरी हैसियत एक मसखरे से ज्यादा नहीं है और जहाँ

मज़े ले-लेकर सुना रहा था और सब लोग बहुत दिलचस्पी से उसे सुन रहे थे. लेकिन इस लतीफे की तरफ अब किसी का ध्यान नहीं था. सबकी निगाहें मेरी हिलती टाँगो पर जमी हुई थी. कमरे में कहकहों का एक तूफान फट पड़ा था.

मेरे सरक्षक को एकाएक गुस्सा आ गया था. हालांकि इन तरह क्रोध से बे-काबू होते मैंने उन्हें पहले कभी नही देखा था. उन्होंने गरजकर मुझे मेज पर उठ जाने का हुक्म दिया. यह पहला मौका था कि बाहर के लोगों के सामने मेरा इतना बड़ा अपमान किया गया था. मैं रात गए तक बिस्तर पर करवटें बदलता रहा. जब सब लोग सो गए और घर में हर तरफ सन्नाटा छा गया तो मैं खामोशी से उठा और घर के बाहर आ गया. मैंने अधेरे मे डूबे हुए घर की दीवारो पर आखिरी बार निगाह डाली और कभी न लौटने की प्रतिज्ञा करके एक तरफ चल पड़ा. मैं इस प्रतिज्ञा पर कायम रहा.

इस घटना को तीस वर्ष हो चुके हैं, लेकिन मैंने फिर उस पर घर का रुख नही किया. आप कह सकते हैं कि इस घर ने मुझे ऐसे समय मे शरण दी थी जब मेरा कोई मददगार नही था और उसे इस तरह भुलाकर मैंने कृतघ्नता का परिचय दिया है. लेकिन मैं यह नही मानता. वास्तव मे, मैं कृतज्ञता और कृतघ्नता दोनों को ही कृत्रिम आचरण के लक्षण मानता हूँ मैं इन्हें सहज भावनाओं की श्रेणी मे नही रखता, मेरा विचार है कि जब कोई आदमी आप पर कोई एहसान करता है तो उसके मूल मे किसी भावना की तुष्टि का ध्येय छिपा होता है. इस तरह एहसान या उपकार के तौर पर किए गए आचरण का केन्द्र वस्तुतः वह व्यक्ति नही होता जिसका प्रकटतः उपकार किया जाता है बल्कि स्वय उपकारकर्ता ही होता है जो स्वयं को तुष्ट करने के लिए यह रूप भरता है. इस तरह देखा जाए तो कृतघ्नता का भी कोई अस्तित्व नही है.

इतना लम्बा अर्सा गुजर जाने पर जब मैं अपने पिछले जीवन की इन घटनाओं पर नजर डालता हूँ तो मेरे दिल में यही इच्छा उभरती है कि काश, मेरे संरक्षक ने मेरा इतना ख्याल न किया होता ! काश, उन्होंने मेरी परवरिश नौकरों की तरह की होती ! तब मैं कितना सन्तुष्ट रहता !

ऐसी स्थिति में मुझे उस रोज भरी सभा से निकाले जाने की बे-इज्जती का सामना भी नही करना पड़ता.

मैं सच कहता हूँ मध्ययुग के गुलाम हम आपसे कहीं ज्यादा सन्तुष्ट जीवन बिताते होंगे क्योंकि वे जानते थे कि भली या बुरी जो भी जिन्दगी उनको मिली है वही उनका भाग्य है और यह बात उन्हें अच्छी तरह मालूम थी कि भाग्य कभी बदल नहीं सकता. लेकिन मेरे संरक्षक ने जो सुविधाएँ मुझे दीं, उनकी वजह से सम्भावनाओं की एक बड़ी दुनिया मेरे सामने खुलती चली गई. इसीलिए मैं अपने अपमान को इतनी तीव्रता से महसूस भी कर सका.

ऐसी बात नहीं है कि इसके बाद मुझे जिन्दगी में कभी अपमानजनक स्थितियों का सामना करना नहीं पड़ा. अक्सर मुझे इससे भी बड़े अपमान का घूंट पीना पड़ा. लेकिन ज्यादा-से-ज्यादा दौलत हासिल करने और समाज में अधिक-से-अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने की हवस हर क्षण बढ़ती ही रही है.

आदमी खुद को समझने की कोशिश ही कर सकता है. इस कोशिश में वह कहाँ तक सफल हुआ है, यह जानना उसके लिए मुश्किल है. मैं अपने पिछले जीवन पर निगाह डालता हूँ तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि बचपन में भूख, गरीबी और अपमान का जो घूट मैंने पिया है उसने मुझे अधिक-से-अधिक धन प्राप्त करने के उन्माद का शिकार बना दिया है. धन और प्रतिष्ठा में जो सम्बन्ध है उसे आप मुझसे बेहतर समझते हैं

जी हाँ, यह उन्माद तो है ही. लेकिन जब कोई अच्छा उन्माद का रूप ले ले तो आदमी हमेशा के लिए उसका बन्दी होकर रह जाता है. मेरी ट्रेजेडी यह है कि मैं अपने उन्माद को महसूस भी करता हूँ लेकिन खुद को इससे मुक्त नहीं कर सकता. शायद यह ट्रेजेडी सिर्फ मेरी ही नहीं, आज के हर इन्सान की है. जी हां, इस दृष्टि से वह आम पागलों से अलग है क्योंकि पागल को दर असल यह एहसास ही नहीं होता कि वह किसी उन्माद का शिकार है. उसे यह एहसास हो जाए तो वह पागल न रहे. देखा जाय तो उसकी दुनिया, हमारी आपकी दुनिया से कहीं अधिक वास्तविक है. मैं जानता हूँ इस दौड़ का कोई अन्त नहीं है. लेकिन 'पंचतन्त्र'

की एक कथा के चौथे ब्राह्मण की तरह हम सब तांबे, चांदी और सोने की खानों को छोड़कर हीरों की खान की तलाश में आगे भागे जा रहे हैं और हमारे सरों पर एक-एक चर्खी घूम रही है.

जो क्या कहा आपने ? पंचतत्र की कहानियां आपने नहीं पढ़ीं ? आप इन्हें जरूर पढ़िए. हमारी प्राचीन संस्कृति और समाज की इनमें आपको बहुत अच्छी झलक मिलेगी. जो हां, मैं जिस कहानी का जिक्र कर रहा हूं वह चार ब्राह्मणों की कहानी है. आपको मालूम होगा कि दौलत की हवस दरअसल प्राचीनकाल से ही मनुष्य की विशेषता रही है. यह उस देश में भी रही है जो संसार को हमेशा माया समझता रहा है और जिसने अध्यात्मवाद को भौतिकवाद से सदा ही श्रेष्ठ माना है. लेकिन मेरे ख्याल में उस वक्त से लेकर आज तक में इतना फर्क जरूर आया है कि वे तीन ब्राह्मण जो तांबा, चांदी और सोने की खानों से सन्तुष्ट हो गए थे, अब अपना अस्तित्व खो चुके हैं जबकि चौथा ब्राह्मण अपने सिर पर घूमती हुई चर्खी के साथ आज हम सबकी सबसे बड़ी वास्तविकता है. जी हां, पंचतन्त्र की कहानियां मेरे विचार में प्रतीकात्मक ही हैं. और इनकी प्रतीकात्मकता आज भी हम सब के लिए बहुत अर्थपूर्ण है. देखिए मैंने व्यर्थ की बातों में बहुत समय नष्ट कर दिया और मैं आपको आपके मतलब की कोई बात भी तो नहीं बता सका.

आप यही सोचते होंगे कि किस 'रैम्बुलर' से पाला पड़ा. आपका ख्याल सही है. मैं जाने क्या-क्या बक गया...बे-सिर-पैर की बातें. फिर भी मैं यही कहूंगा कि किसी भी देश या जाति की संस्कृति का अन्दाजा उसके बारे में लिखी गई पुस्तकों को पढ़कर ज्यादा अच्छी तरह किया जा सकता है, क्योंकि इन्सान तो हर जगह एक-जैसे ही हैं. हां, संस्कृति की पुस्तकों को पढ़कर वे हमें एक-दूसरे से अलग जरूर नजर आते हैं.

अब मुझे आज्ञा दीजिए. साढ़े नौ बज रहे हैं.

गुडनाइट !

●●

असह्य क्षणों के बीच

••

वह क्षण अब निकट से निकटतर आता जा रहा है. और मैं उसके बारे मे सोचकर ही बर्फ की तरह जमने लगा हूं. एक बार अस्पष्ट-सी, सर्वथा निराधार आशा की किरण मन मे रह-रहकर बुझती हुई चिंगारी की तरह चमक उठती है. लेकिन ऐसा तो रोज ही होता है. यह जानते हुए भी कि आशा झूठी है, बेबुनियाद है, मन उसकी शरण में चला जाता है. यह सिलसिला भी अब कितना पुराना हो चुका. शायद तीन वर्ष हो गए या इससे भी ज्यादा. लेकिन इसकी जिम्मेदारी भी मुझ पर ही आती है. दोष मेरा ही था. बहुत मामूली-सी गलती हुई थी और तब ऐसा सोचा भी कहां था कि कोई गलती कर रहा हूं. और यहां गलती अब इतनी बड़ी साबित हो रही है. उसकी सजा अनन्त काल तक भुगतनी पड़ेगी. परन्तु सब कुछ अन जाने ही हुआ था. यह मुसीबत जो इतने वर्षों से गले पड़ी हुई है आसानी से टाली जा सकती थी. लेकिन मैं क्या जानता था कि इसके कारण मेरे मुंह में भी कोई छछूंदर आ जाएगा जिसे न तो उगल सकूंगा और न ही निगल सकूंगा. कैसी झुंझलाहट होती है अपने आप पर. सब कुछ अपना ही किया कराया है उस रोज झुकर गया होता तो काहे को इस जजाल में फंसता.

सामने वाले क्लाक में बड़ा कांटा ग्यारह को छू रहा है. अब सिर्फ पांच मिनट रहते हैं दो बजने में. ठीक दो बजे वह आ जाएगा. चपरासी भी इतना अभ्यस्त हो गया है कि मुंह से कुछ कहने की जरूरत महसूस नहीं करता. कमरे मे आकर एक खास मुस्कराहट के साथ मुझे देखता है और सिर को हल्के से जुंबिश दे देता है. वह जानता है कि उसे जो कुछ कहना है उसके लिए शब्द अनावश्यक है. और वह ठीक ही समझता है.

मैं उसे देखकर ही समझ जाता हूं कि वह किस लिए आया है. दरअसल इस चपरासी से भी कुछ कम घृणा नही है मुझे. शायद वह भी जानता है कि उसे देखते ही मेरे मन में कैसी उथल-पुथल होने लगती है. उसके होंठों पर फैली हुई अर्थपूर्ण मुस्कराहट मुझे भीतर से और विचलित कर देती है. यह मुस्कराहट जैसे मुझसे कहती है, "चलो बेटे. सूली पर चढ़ने का समय आ गया. अब तुम इससे बच नही सकते." जी चाहता है यहाँ से निकल भागूं, कही चला जाऊं जहाँ इस घुटन, इस ऊब और सड़ांध से छुटकारा मिल सके. लेकिन मैं ऐसा नही कर सकता. सिर्फ सोचकर रह जाता हूं.

कभी-कभी तो अपनी विवशता का एहसास इतना तीव्र हो जाता है कि आत्म-हत्या करने की इच्छा होने लगती है. परन्तु शीघ्र ही खुदकुशी की इच्छा को मैं दबा देता हूं और उसकी जगह एक अदम्य घृणा ले लेती है. मैं दांत भीच लेता हूं, मुक्का हवा में लहराने लगता हूं और मेरे मुंह से कोई मोटी-सी गाली निकल पड़ती है. फिर यह प्रतिक्रिया भी मेरी अकर्मण्यता, मेरी नपुंसकता को ही पुष्ट करने लगती है. मुझे अपने-आप पर झुंझलाहट होती है. एक अजीब बेचैनी और तड़पन मुझे घेर लेती है जिस तरह कोई चूहा चूहेदानी मे फँसकर तड़पने लगता है और चूहेदानी के जंगले से सिर फोड़ने लगता है.

इस मुसीबत की शुरूआत बहुत ही अप्रत्याशित रूप से अचानक ही हुई थी. मैंने सपने में भी नही सोचा था कि वह बात जिसे इतने यत्न से मैं छिपाता आया था. इस तरह एकाएक ही खुल जाएगी. मुझे हमेशा यही उचित लगता था कि अपने व्यक्तित्व के इस पक्ष को किसी पर प्रकट न होने दूं. मैं सोचता था कि लोगों को इसका पता चल गया तो वे मेरे बारे में गलत धारणा बना सकते हैं और इससे मुझे नुकसान पहुंच सकता है. यह बात भी नही थी कि मैं जिस बात को लोगों से छिपाना चाहता था वह कोई गलत बात थी. कम-से-कम मेरे लिए वह कोई गलत बात नही थी. लेकिन यह शंका मन मे जरूर होती थी कि दूसरे लोग इसे गलत या अनुचित या असाधारण आचरण मान सकते हैं और उनकी यह धारणा मेरे लिए

हानिकारक हो सकती है. फिर यह ख्याल भी होता था कि मेरे व्यक्तित्व का यह पक्ष यहाँ के वातावरण को देखते हुए कुछ अनावश्यक और बेमेल-सा है. जिस किसी को भी मेरे बारे में यह बात मालूम होगी उसे बड़ा आश्चर्य होगा, सिर्फ इतना ही नहीं, बहुत सारे लोग तो सन्देह या घृणा की दृष्टि से भी देखने लगेंगे. मैं देख चुका था कि मेरे एक मित्र की क्या हालत हो गई थी उसके दफ्तर में. मैं जब कभी उससे मिलने जाता तमाम लोग मुझे इस तरह फटी-फटी आँखों से देखते जैसे मैं कोई विचित्र प्राणी हूँ, कोई ऐसा अजूबा जिसके प्रति कोई सहज रवैया नहीं अपनाया जा सकता. कभी मुझे अपना मित्र सीट पर न मिलता और मैं पास बैठे आदमी से उसके बारे में पूछता तो वह अर्थपूर्ण मुस्कराहट के साथ अपने होंठ बिचका देता और अपना हाथ इस तरह हिलाने लगता मानो कहना चाहता हो, मुझे कुछ पता नहीं, और मुझे क्या किसी को भी उसके बारे में क्या पता हो सकता है.

मेरे मित्र की स्थिति सचमुच बड़ी दयनीय थी. सबने उसे जैसे अपनी बिरादरी से निकाल दिया था. वे उसे अपनी पांत में बिठाने को तैयार नहीं थे. और मेरे मित्र के लिए भी ऐसी स्थिति में मानसिक सन्तुलन बनाए रखना कठिन हो गया था. यह एहसास कि दफ्तर में तमाम लोग उसे अपने वर्ग का नहीं मानते और उसके साथ उनका बरताव किसी भी तरह से सहज और सामान्य नहीं है जो मेरे मित्र को असामान्य आचरण करने पर विवश कर देता था. इसके कारण वह हर समय एक तनावपूर्ण स्थिति में रहता था. वह बखूबी जानता था कि दफ्तर के लोग उसे बेहद गलत किस्म का आदमी समझते हैं और पीछे-पीछे उसका मजाक उड़ाते हैं. वह उन्हें ऐसा करने से रोक नहीं सकता परन्तु आत्म-सम्मान और अहं की रक्षा के लिए उसने भी इन सबको तुच्छ और मूर्ख समझने का रवैया अपना लिया था. यह एक तरह का कवच था जिसकी सहायता से वह दूसरों के प्रहार का सामना कर सकता था. साफ दीखता था कि उसका अहंकार इस स्थिति के कारण बहुत बढ़ गया है. जिस बात का पता लगने के कारण उसके और दूसरे लोगों के बीच अलगाव पैदा हो गया था वह बात यदि लोगों को मालूम न होती तो मेरा मित्र इस तनाव-ग्रस्त स्थिति से बच सकता था.

दरअसल इस मामले में भी गलती मेरे मित्र की ही थी. उसने स्वयं बड़े गर्व से अपने साथियो को अपने बारे में सब कुछ बता दिया था उसका ख्याल था कि इससे उसका महत्त्व बढ़ जाएगा और तमाम लोग उसे अपने से अधिक श्रेष्ठ और ऊँचे स्तर का व्यक्ति मान लेंगे.

ऐसा सोचना उसकी भूल थी. उसे समझना चाहिए था कि अपनी जिस योग्यता पर उसे इतना नाज है वह औरों की दृष्टि मे दो कौड़ी की भी नही है. अब मन-ही-मन वह शायद अपने किए पर पछता रहा है. लेकिन अब क्या हो सकता है ! उसके बारे मे लोगों की धारणा बन चुकी है और इस धारणा को बदलना अब असम्भव है. और बात केवल उसके समकक्ष सहकर्मियों तक ही सीमित रहती तो शायद यह हालत न होती. जैसाकि दफ्तरों में अक्सर होता ही है, उसके सहकर्मियों ने यह बात अफसरों तक भी पहुँचा दी थी. और अफसर भी उसे ऐसी दृष्टि से देखने लगे थे जैसे कह रहे हों, "तुम्हारे जैसे जन्तु का यहाँ क्या काम."

अपने मित्र की यह दुर्दशा देखकर मैं अधिक चौकन्ना और सतर्क हो गया था, मैं अपने मित्र को बहुत चाहता हूँ. मन में उसे अपने से अधिक योग्य भी समझता हूँ. परन्तु मैं यह कभी नहीं चाहता था कि दफ्तर मे मेरी भी वैसी सी दुर्गति हो जैसीकि उसकी हो रही थी इसलिए मैं अपने सहकर्मियों से बातचीत करते समय हमेशा इसका ख्याल रखता हूं कि उन्हें मेरी असलियत का पता न चल सके. हालांकि उन्हें मैं बहुत नीच और घटिया आदमी समझता हूं. उनकी बातें सुनकर मुझे बहुत कोफ्त और उलझन महसूस होती है. उनके घटिया लतीफे और गन्दे-फूहड़ मजाक सुनता हूं तो हँसने की बजाय चीख-चीखकर रोने की इच्छा होती है. ऐसे मौकों पर जी चाहता है कि मार-मारकर इन सबका कचूमर बना दूं. अपनी मनःस्थिति को काबू मे रखना प्रायः असम्भव हो जाता है, लेकिन अपने मित्र की नियति के बारे में सोचकर मेरा सारा विक्षोभ शांत होने लगता है और मैं अपने सहकर्मियों के स्तर पर उतरकर उनसे उनकी भाषा में ही बात करने लगता हूँ. यद्यपि यह पाखंड भी कुछ कम कष्ट-दायी नहीं है, फिर भी यह सोचकर दिल को तसल्ली दे लेता हूं कि रोम में रहकर रोम-निवासियों जैसा आचरण करना ही लाभकर हो सकता है.

अपनी यह स्थिति बहुत सुखद न होते हुए भी उस स्थिति से तो जरूर ही अच्छी है जिसमें मेरा मित्र वर्षों से पड़ा हुआ है. कम-से-कम मेरे सहकर्मी मेरे बारे में ऐसी वैसी बातें तो नहीं करते हैं, जिस तरह मेरे मित्र के सहकर्मी उसके सम्बन्ध में करते हैं. कम-से-कम मुझे अपनी बिरादरी का तो समझते हैं और मुझे अपनी पाँत में बिठाने मे उन्हें कोई संकोच तो नहीं होता. आखिर इसमें हर्ज भी क्या है ! दिन-भर दफ्तर में वैसी ही घिसी-पिटी बातें करते रहो जैसी दूसरे करते हैं, शाम को दफ्तर से निकलकर सब को मोटी-सी गाली दो और दफ्तर की कोई बात दिमाग में आने ही न दो. मैंने अभ्यास करके यह मनोवृत्ति बना ली थी और गाड़ी एक हद तक ठीक-ठीक चल रही थी.

दरअसल सब-कुछ मेरी मूर्खता या असावधानी के कारण ही हुआ था. उस रोज ही एक भूल हो गई थी और यह भी मात्र सयोग की बात थी कि एक मामूली-सी भूल ने इतनी बड़ी मुसीबत का रूप ले लिया था. हाँ, यह संयोग ही तो था कि रिसेस में जब तमाम लोग चाय पीने या घूमने के लिए बाहर गए हुए थे और कमरे में मैं अकेला बैठा था, बॉस एकाएक ही आ गया था. बॉस का इस तरह अचानक कमरे में आ जाना बिलकुल अप्रत्याशित घटना थी. और वह भी रिसेस में ! बॉस वैसे भी हमारे कमरे मे कभी-कभार ही आता है. कोई ऐसा जरूरी काम आ जाए जो बॉस को इतना उत्तेजित कर दे कि चपरासी के जरिए बुलवाने की बजाए वह खुद भागता हुआ मेरे कमरे में आ जाए. ऐसे मौके कभी-कभार ही आते हैं. आमतौर पर बॉस अपने कमरे में ही बुलवाता है. रिसेस मे वैसे भी कोई अफसर अपने मातहतों के कमरे में नहीं जाता. वह जानता है कि बाबू किस्म के लोग रिसेस में कभी अपनी सीट पर नहीं मिलते. वे अफसर तो हैं नहीं कि रिसेस में भी अपने कमरे मे ही बैठे रहें. वे तो बारह बजे से ही रिसेस की प्रतीक्षा करने लगते हैं. इधर एक बजा नहीं कि अपना टिफिन बक्स (जो दरअसल टॉफियों का कोई पुराना डिब्बा होता है) उठाकर कैंटीन की तरफ भागे. मैं खुद भी रिसेस मे बाहर चला जाता हूँ लेकिन

उस रोज मैं जान-बूझकर कमरे में ही बैठा रहा था.

सब बाहर चले गए थे और दो बजे से पहले किसी के लौटने का डर नही था, मैं पूरी तन्मयता और तल्लीनता से एक लघु पत्रिका पढ़ रहा था जो मुझे उसी रोज मिली थी. वैसे मैंने सदा ही यह सावधानी बरती है कि पत्रिकाएँ वगैरह कभी दफ्तर के पते पर नही मँगाता. इतना ही नहीं घर से भी कभी पत्रिकाएँ वगैरह लेकर दफ्तर नही आता, यह पहला अवसर था कि पत्रिका लेकर दफ्तर आया था. मैं दफ्तर आने के लिए घर से निकल चुका था. रास्ते में ही पोस्टमैन मिल गया और उसने मुझे वह पत्रिका थमा दी. मैं चाहता तो पोस्टमैन से कह सकता था कि वह पत्रिका घर पर दे आए. लेकिन पत्रिका में मेरी एक कविता छपी थी और इसे मुद्रित रूप में देखने के मोह का सवरण में नही कर सका.

बस यही भूल हो गई, रास्ते मे खड़े-खड़े उसे देख लेता और पोस्टमैन को हिदायत कर देता कि पत्रिका घर जाकर डिलीवर कर दे तो एक बड़ी विपत्ति टल गई होती. दुर्भाग्य से मैं ऐसा नही कर सका. लेकिन मैं भी क्या जानता था कि घटना-चक्र मेरे लिए एक षड्यन्त्र की रचना कर रहा है और मैं अनजाने ही किसी त्रासदी के नायक की तरह एक ऐसे चक्रव्यूह मे फँसता जा रहा हूँ जहाँ से मुझे कभी मुक्ति नहीं मिल सकेगी. मैं पत्रिका को इस तरह छिपाकर ले गया था कि दफ्तर में किसी ने उस पर कोई ध्यान नही दिया था. जाते ही मेज की दराज में पत्रिका चुपके से रख दी थी.

और कोई पत्रिका होती तो शायद इतनी सावधानी अनावश्यक होती. लाखों की संख्या में छपने वाली व्यावसायिक पत्रिकाएँ तो सभी पढ़ते हैं. ऐसी कोई पत्रिका होती तो निस्संकोच उसे अपनी मेज पर रख सकता था. कोई भी इसका नोटिस नही लेता. लेकिन यह पत्रिका तो ऐसी थी जिसका नाम तक दफ्तर के लोगों ने नही सुना था. फिर इस पत्रिका में मेरी एक कविता भी छपी थी और कविता के अन्त मे मेरा पता भी लिखा था, मतलब यह है कि जो भी इस पत्रिका को देखता वह तुरन्त ही जान लेता कि मैं कविताएँ लिखता हूं. इस तरह यह रहस्य जो इतने लम्बे अर्से से मैं छिपाता आया था फौरन खुल जाता. यही सब सोचकर मैंने

पत्रिका मेज की दराज में रख ली थी ताकि उस पर किसी की निगाह न पड़ सके. पत्रिका को इस तरह छिपाकर रख देने के बाद मैं निश्चिन्त हो गया था और दफ्तर के काम मे लग गया था. रिसेस में जब तमाम लोग बाहर चले गए तो मैं पत्रिका निकालकर पढ़ने लगा था. मुझे क्या पता था कि बॉस इस तरह अचानक ही आ धमकेगा.

बॉस को अपने सामने खड़ा देखकर मैं बुरी तरह घबरा गया था. मुझे लगा था जैसे मुझे चोरी करते पकड़ा लिया है. बदहवासी की हालत में मैं उठ खड़ा हुआ था और पत्रिका को फाइलों के अन्दर छिपाने का असफल प्रयास करने लगा था. बॉस से निगाह मिलाना मेरे लिए कठिन हो रहा था. भय और पछतावे का मिला-जुला एहसास मुझ पर हावी हो रहा था. लग रहा था वर्षों के प्रयास से जो धारणा उसके मन में मेरे लिए बनी थी वह एक क्षण में छिन्न-भिन्न हो जाएगी. मैंने किसी तरह साहस बटोरकर बॉस को आँखो के कोने से देखने की कोशिश की थी. मुझे बड़ा अचम्भा हुआ था. उसके चेहरे पर अप्रसन्नता का कोई भाव नही था. इसके विपरीत उसके होंठो पर हल्की मुस्कराहट थी जो अर्थपूर्ण होते हुए भी किसी भी प्रकार से व्यग्य का आभास नही दे रही थी. भर्त्सना की बजाय उसकी आँखो में सराहना का भाव था. सचमुच यह बड़ी अजीब बात थी. बॉस नाराज होने की बजाय काफी प्रसन्न दिखाई दे रहा था.

मेरा मन कुछ हल्का होने लगा था. लेकिन एक डर अब भी बना हुआ था. कहीं वह मुझसे यह पत्रिका न माँग बैठे जिसे मैंने फाइलो मे घुसेड़ तो दिया था परन्तु जिसका एक कोना बाहर झाँक रहा था. बॉस ने कही यह पत्रिका माँग ली और उसमे प्रकाशित मेरी कविता पढ़ ली तो बस समझ लो कबाडा हो जाएगा. कविता पढ़कर मेरे बारे में उसकी ऐसी खराब धारणा बनेगी कि उसे बदलना असम्भव होगा. सचमुच मेरी कविता पढकर वह चकरा जाएगा. पहले तो उसे विश्वास नही आएगा कि वह कविता मैंने लिखी है. सोचेगा, मेरा हमनाम कोई और व्यक्ति होगा. लेकिन कविता के अन्त मे मेरा पता देखकर उसे विश्वास हो जाएगा कि यह कविता उसके मातहत ने लिखी है. बॉस को मालूम है कि मैं कहाँ रहता हू. एक-दो बार अपनी कार में वह मुझे लिफ्ट दे चुका है. पता देख

कर उसे पूरा यकीन हो जाएगा. उसे कितना आश्चर्य होगा कविता को पढ़कर. वह सोचेगा, यह सीधा-सादा व्यक्ति तो कुछ और ही निकला. इस पर अब भरोसा नहीं किया जा सकता.

इस तरह की अनेक आशंकाएँ मेरे मन में उत्पन्न हो रही थीं और मुझे रह-रहकर अपने ऊपर क्रोध आ रहा था. एकाएक बॉस का हाथ फाइलों के तले दबी हुई पत्रिका की ओर बढ़ता दिखाई दिया. मेरा मन डूबने लगा. सारा भंडा फूटने को था. बॉस के बढ़े हाथ को मैं कैसे रोक सकता था. उसने पत्रिका का वह कोना जो बाहर झांक रहा था, ऊंगलियों से पकड़ लिया था और मुझसे पूछ रहा था, "कौन-सी पत्रिका है ?"

अपने प्रश्न के उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही उसने पत्रिका फाइलों के ढेर में से निकाल ली थी और उसके पन्ने उलटने लगा था. मैं किंकर्त्तव्यमूढ़-सा खड़ा देख रहा था और समझ में नहीं आ रहा था कि ऐसे अवसर पर क्या करना चाहिए.

बॉस की दृष्टि एक पन्ने पर अब रुक गई थी. जरूर यह वही पन्ना होगा जिस पर मेरी कविता छपी है. मैंने बॉस के चेहरे को पढ़ने की कोशिश की थी. उस पर एक कौतुहल अंकित दिखाई दिया था. अब किसी शक की गुंजाइश नहीं थी. वह सब-कुछ जान गया था. बॉस ने कहा था, "तो तुम कविताएं लिखते हो!" मैं ऐसे अपराधी की तरह जिसे अपना अपराध स्वीकार हो, खामोश रहा था. बॉस कमरे से जाते समय पत्रिका भी अपने साथ ले गया था. मैं निढाल होकर कुर्सी पर गिर पड़ा था और आगे आने वाली मुसीबतों के बारे में सोचने लगा था.

परन्तु वैसा कुछ नहीं हुआ जैसा कि मैं सोच रहा था. बॉस मेरे काम से काफी खुश था. इसका कारण यह नहीं था कि मुझमें कोई असाधारण योग्यता थी जिससे बॉस प्रभावित था. हर मातहत के लिए बॉस को खुश करने का एक ही तरीका होता है और वह यह है कि बॉस की हाँ में हाँ मिलाता रहे. यहाँ तक कि बॉस कोई गलत बात कह रहा हो तो उसका समर्थन भी इस तरह किया जाए जैसे इससे सही बात दुनिया में कोई और

नहीं हो सकती. मातहत का अपना कोई मत नहीं होता. यदि उसका अपना कोई मत हो भी तो उसे बॉस के सामने कभी व्यक्त नहीं करना चाहिए. खास तौर पर जब यह मत बॉस के मत के अनुकूल न हो. मैं भी इसी नुस्खे पर अमल करता हूँ और इससे मुझे बहुत लाभ हुआ है. लेकिन अब साफ दिखाई दे रहा था कि मेरा "इमेज" बिगड़ने वाला है. यह सब सोचकर मैं आतंकित होने लगा था और उस घड़ी को कोस रहा था जब पत्रिका को दफ्तर में लाने की भूल मैंने की थी.

रिसेस के तुरन्त बाद ही बॉस ने मुझे बुला भेजा था. इस बीच मैंने अपने को काफी समत करने की कोशिश की थी. मैंने अपने को समझाने का प्रयत्न किया था कि जो कुछ हुआ था वह अवांछनीय होते हुए भी इतना गम्भीर नहीं है कि मैं इस तरह परेशान होऊं. बॉस को यह मालूम हो गया तो ऐसा क्या पहाड़ टूट पड़ा. मेरे बारे में उसकी धारणा बिगड़ती है तो बिगड़ने दो. मैं दफ्तर का काम ठीक-ठीक कर लेता हूँ, वह मेरा क्या कर सकता है. माना कि यह बात दफ्तर में फैल गई तो भी क्या होगा. ज्यादा-से-ज्यादा यही होगा न कि मेरी स्थिति भी वैसी हो जाएगी जैसी मेरे कवि मित्र की है.

मुझे लगा था कि मेरे कवि-मित्र की स्थिति ऐसी बुरी भी नहीं है. वास्तव में हर प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति के लिए ऐसी ही स्थिति की कल्पना की जा सकती है. दोष मेरे कवि मित्र का नहीं है. सारा दोष उन लोगों का है जो लीक पर चलने के सिवाए कुछ और नहीं कर सकते. अपने कवि-मित्र के लिए मेरे मन में आदर-भाव उमड़ पड़ा था. मुझे लगा था, उसकी कविताएँ जो इतनी सशक्त होती हैं तो उसका कारण शायद यही है कि प्रतिकूल परिस्थितियाँ लेखक की सर्जनात्मक शक्ति को निखार देती हैं. मैं अब तक प्रतिकूल परिस्थितियों से अपने को बचाता आया था और शायद इसी कारण मेरी सर्जनात्मकता पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो रही थी. मुझे याद आया था कि दफ्तर में नौकरी करने के बाद मैंने पाँच-सात कविताएँ ही लिखी थीं और ये कविताएँ तीन-चार वर्षों की लम्बी अवधि में लिखी गई थीं, जबकि मेरा कवि-मित्र हर महीने पाँच-सात कविताएँ लिख लेता था. और उनकी कविता में निस्सन्देह कहीं अधिक

हुआ साहित्यकार है जो अपनी पराजय और खीझ को गर्वोक्तियों के परदे में छिपाना चाहता है. वह अपने बारे में जिस तरह धारा-प्रवाह बोले जा रहा था उससे लगता था कि वर्षों से उसे कोई श्रोता नहीं मिला है और मुझ जैसा श्रोता पाकर उसके धीरज और संयम का बाँध एकाएक टूट गया है. बॉस की बातों से जाहिर होता था कि उसे ऐसे तमाम साहित्यकारों से शिकायत है जिन्होंने साहित्य की दुनिया में थोड़ा-बहुत नाम कमाया है. उसका ख्याल था कि इन तमाम साहित्यकारों ने उसके विरुद्ध एक षड्यंत्र रच रखा है.

लेकिन शुरू-शुरू में बॉस की बातें बहुत ज्यादा उबानेवाली नहीं लगती थी. उन पर हँसी जरूर आती थी. यह और बात है कि बॉस के सामने उन पर हँस नहीं सकता था. केवल उसकी बातें ही नहीं, उसकी कविताएँ भी मुझे बहुत बचकानी लगती थीं. फीरोजी होठों और कजराई आँखों वाली इन कविताओं को सुनकर ठहाका मारने को जी चाहता था. पर बॉस के सामने ठहाका मारकर हँसने की हिम्मत भला कैसे हो सकती थी.

लेकिन जल्दी ही उसकी बातों से मुझे उबकाई-सी आने लगी. मुझे लगता, मैं किसी गली-सड़ी लाश के पास बैठा हूँ और इसकी सड़ांध मेरे नथुनों से होती हुई मेरे दिमाग में पहुँच रही है. बॉस के साथ मेरी यह निकटता दफ्तर के लोगों में चर्चा का विषय बन चुकी थी और मेरे सभी साथी मुझे बॉस का चमचा समझने लगे थे. मैं दोनों तरफ से पिस रहा था. बॉस की उबाऊ बातें मुझे आत्महत्या करने को उकसाती थीं. उधर साथियों की संशय-भरी दृष्टि मुझे परेशान करती रहती थी.

मेरी हालत धोबी के गधे की हो रही थी, साथी समझते थे कि मैं रोज घन्टे-डेढ़ घन्टे जो बॉस के साथ गुजारता हूँ तो इस सारे समय में मैं उनकी जड़ खोदता रहता हूँ. उनसे अपनी सफाई में कुछ कहना उनके संशय को और दृढ़ करना था. इसलिए खामोश रहना ही ठीक लगता था. और बॉस समझता था कि वह मुझ पर कोई बड़ा एहसान कर रहा है. अपने एक मामूली मातहत से घण्टों इतनी अंतरंगता से बातें करना एहसान नहीं तो और क्या है ? हालाँकि जिस अंदाज से वह बातें करता था अंतरंगता का मिथ्याभास मात्र था. एक तरह की दूरी, वर्ग-भेद का

उसमें बना रहता था. अक्सर मैं भीतर से खौलने लगता और मन करता कि चीख-चीख कर उससे कहने लगूं : 'तू अव्वल दर्जे का पाखंडी है. एहसान मैं कर रहा हूं या तू ? तेरी बकवास मैं रोज चुपचाप सुनता रहता हूं. तेरे चेहरे और आवाज़ से ऐसी सड़ाँध निकलती है कि मेरा दिमाग फटने लगता है."

पर मैं कुछ कह नहीं पाता था. शायद थोड़ा अनौपचारिक वातावरण बनाने के लिए वह मुझसे साहित्य के अलावा दूसरे विषयों पर भी बातें करने लगता है. लेकिन इनका केन्द्र भी वह स्वयं होता है. और ये बातें भी कुछ कम उबाऊ नहीं होतीं. केन्द्रीय सरकार के इस दफ्तर में आने से पहले वह एक राज्य सरकार में नौकरी कर रहा था. वहाँ की नौकरी को लेकर वह बहुत सारे अनाप-शाप किस्से सुनाया करता है. कुछ उसी अंदाज में जिस तरह कोई पुराना शिकारी या कोई सैनिक अपने साहस के कारनामे सुनाता है. लेकिन शिकारी या सैनिक के इन किस्सों में जहाँ रोचकता और कौतूहल बनाए रखने की क्षमता होती है वहाँ बॉस की घिसी-पिटी कहानियों में ऐसी कोई बात नहीं होती. उसके इन किस्सों में भी वही लिजलिजापन और उबाऊपन होता है जो उसके सारे व्यक्तित्व में व्याप्त है. कभी तो घण्टे-डेढ़-घण्टे का सारा समय वह ऐसी ही घिसी पिटी बातें सुनाने में बिता देता है. उसे इतना ख्याल भी नहीं होता कि वह ये किस्से जाने कितनी बार पहले सुना चुका है.

'मैं जब राजस्थान सरकार में था'—पहले वाक्य का यह अंश सुनते ही मेरी रगों में एक तनाव पैदा होने लगता है और भीतर एक शदीद बेचैनी महसूस होने लगती है. जी चाहता है कमरे से निकल भागूं या सामने पड़ा पेपर वेट उसके सिर पर दे मारूं. लेकिन मैं यह सब-कुछ भी नहीं कर सकता और अन्दर-ही अन्दर घुटता हुआ उसी कहानी को किसी गूंगे-बहरे आदमी की तरह सुनने लगता हूं जो बीसियों बार पहले सुन चुका हूं.

बॉस क्या सचमुच मुझे इतना मूर्ख और जड़-बुद्धि समझता है कि ऐसी झूठी और निराधार कहानियां सुनाने में उसे कोई संकोच नहीं होता. अपने किसी अफसर से लड़ाई का किस्सा इतने विस्तार से सुनाते समय क्या क्षणभर को भी उसे यह ख्याल नहीं होता कि सारी कहानी उसके

व्यक्तित्व से मेल नहीं खा रही है. क्या मैंने खुद उसे अपने अपसर के सामने दुम हिलाते नहीं देखा है? क्या कोई आदमी जो इस तरह अपने अपसर के सामने दुम हिला सकता है कभी किसी अपसर से लड़ने की हिम्मत कर सकता है? मैंने उसकी सर्विस-बुक देखी है. वह एक बहुत मामूली पद से तरक्की करके इतने ऊँचे ओहदे पर पहुँचा है क्या मैं इतनी छोटी-सी बात भी नहीं समझता कि अपसर से लड़ने वाला व्यक्ति इस तरह तरक्की नहीं कर सकता. क्या सचमुच बॉस मुझे उल्लू का पट्ठा समझता है जो ऐसे कल्पित किस्से सुनाया करता है और इस तरह शेखी बघारता है. यह सब सोचकर मुझे बड़ी झुँझलाहट होती है. मैं तिलमिला उठता हूँ. तीव्र अपमान और नपुंसक आक्रोश की धार मुझे रेतने लगती है और मैं एक दयनीय बेबसी के साथ बॉस का चेहरा देखने लगता हूँ.

बॉस ने दफ्तर में बहुत तरक्की की है. उसका केरियर किसी भी केरियरिस्ट के लिए ईर्ष्या का विषय हो सकता है. लेकिन साहित्य में वह मात खा चुका है. इस हार की तिलमिलाहट अक्सर उसे विचलित कर देती है और वह ऐसे तमाम साहित्यकारों को गालियाँ देने लगता है जो उसे पीछे छोड़कर आगे बढ़ गए हैं. विशेष रूप से 'नरेश नारकी' से वह बहुत नाराज़ दिखाई देता है. चापलूस, घटिया नीच—ऐसे कितने ही विशेषणों से वह उसकी चर्चा आरम्भ करता है. मैं नरेश नारकी से कभी नहीं मिला. यह एक व्यावसायिक पत्रिका का संपादक है और बहुत मोटी तनख्वाह पाता है. वह बड़ा ही लिजलिजा कवि है. लगभग उतना ही लिजलिजा जितना मेरा यह बॉस है. लेकिन उसने बहुत यश कमाया है. बॉस को उसकी यह ख्याति, यह प्रतिष्ठा बुरी लगती है. इसका कारण बॉस का ईर्ष्याभाव है. दोनों कभी साथ पढ़ते थे. दोनों ने साथ-साथ ही कविता लिखनी शुरू की थी. शायद दोनों की योग्यता में कुछ अधिक अन्तर भी नहीं था. लेकिन 'नरेश नारकी' शायद बॉस से अधिक तिकड़मी था. वह बाज़ी मार गया. जिस पत्रिका का यह सम्पादक है उसका सम्पादक बनने के लिए दोनों में बहुत होड़ लगी थी. दोनों अपनी-अपनी गोटें बैठाने की जी-जान से कोशिश कर रहे थे. बॉस पत्रिका के मालिक सेठ तक पहुँच गया था लेकिन नरेश उससे अधिक चालाक निकला. उसने

क्रान्ति के सौदागर

••

मेरा दोस्त सचमुच बड़ा ही क्रान्तिकारी किस्म का जवान था. यह उन दिनों की बात है जब हमारे देश के बहुत सारे युवक बड़ी उत्सुकता से लाल सवेरा की प्रतीक्षा कर रहे थे. ये क्रान्ति को अलादीन के चिराग जैसी कोई चीज समझते थे जिसके आते ही उनके सब दुख-दर्द दूर हो जाएँगे.

यों तो क्रान्ति के बारे में सोचकर सभी गद्गद हो जाते थे लेकिन मेरे मित्र के मुंह से कुछ ज्यादा ही राल टपकने लगती थी. मैं इसे मात्र संयोग ही कहूंगा कि वह क्रान्ति के चक्कर में पड़ गया था. जहाँ तक मैं समझ सका हूं क्रान्ति में उसकी रुचि हीन-ग्रन्थि के कारण पैदा हुई थी.

बचपन में ही माँ-बाप का देहान्त हो जाने के कारण उसका पालन-पोषण एक सम्पन्न रिश्तेदार के घर में हुआ था. सब प्रकार की भौतिक सुख-सुविधाओं के बावजूद इस एहसास से बचना उसके लिए सम्भव नहीं था कि वह बहरहाल दूसरों के टुकड़ों पर पल रहा है. इस एहसास ने उसके व्यक्तित्व में बहुत कटुता भर दी थी जो संभ्रान्त परिवार के तौर-तरीके सीख लेने के कारण विस्फोट के रूप में तो प्रकट नहीं होती थी लेकिन वह भीतर-ही-भीतर इस आग में झुलसता रहता था.

वह बहुत सम्वेदनशील था. मैं नहीं कह सकता कि यह सम्वेदन-शीलता उसके स्वभाव में ही निहित थी या उन परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हुई थी जिनका सामना उसे अपने जीवन में करना पड़ता था.

आत्म-प्रेम की प्रवृत्ति मेरे मित्र में बहुत प्रबल थी. यह भी शायद उसकी हीन-ग्रन्थि की ही देन थी. वह जिस अंदाज से हम स

सेठ की बजाए सेठानी को पकड़ लिया लिया था. बॉस कहता है : "सेठ जी मुझे ही रखना चाहते थे लेकिन इस टुच्चे ने जाने कैसे सेठानी को फांस लिया." बॉस के मुंह से यह सुनकर भीतर-ही-भीतर मुझे बड़ी खुशी महसूस होती है. मैं उसके चेहरे को गौर से देखता हूं. फ्रस्ट्रेशन की गहरी छाप देखकर मुझे एक सुखद अनुभूति होती है और मन में कहता हूं— "साले तुझे भी तो किसी से पिटना था."

मैं वाल क्लॉक की तरफ देखता हूं. दो बजकर पांच मिनट हो गए हैं. ताज्जुब है बॉस ने अब तक नहीं बुला भेजा. कुछ उखड़ा-उखड़ा-सा महसूस करने लगता हूं. कहीं बॉस नाराज़ तो नहीं हो गया. कमरे में लोग अपनी-अपनी सीट पर आकर बैठ गए हैं और मुझे अजीब-सी दृष्टि से देख रहे हैं. उन्हें भी आश्चर्य है कि मैं इस समय उनके पास कैसे बैठा हूं. कुछ बेचैन-सा होने लगा हूं. चुपके से उठकर बॉस के कमरे की तरफ जाता हूं. बाहर स्टूल पर चपरासी बीड़ी पी रहा है. मुझे देखते ही, और मेरे प्रश्न की प्रतीक्षा किए बिना ही, वह उसी अर्थपूर्ण मुस्कुराहट के साथ कहता है— "साहब जॉइंट सेक्रटरी के पास गया है."

बॉस इस समय अपने बॉस के पास भीगी-बिल्ली बना बैठा होगा. यह सोचकर बड़ी राहत-सी महसूस होती है. मैं अपने कमरे की तरफ जाने की बजाए कैंटीन की तरफ मुड़ जाता हूं.

●●

क्रान्ति के सौदागर

●●

मेरा दोस्त सचमुच बड़ा ही क्रान्तिकारी किस्म का जवान था. यह उन दिनों की बात है जब हमारे देश के बहुत सारे युवक बड़ी उत्सुकता से लाल सवेरा की प्रतीक्षा कर रहे थे. ये क्रान्ति को अलादीन के चिराग जैसी कोई चीज समझते थे जिसके आते ही उनके सब दुख-दर्द दूर हो जाएँगे.

यों तो क्रान्ति के बारे में सोचकर सभी गद्गद हो जाते थे लेकिन मेरे मित्र के मुंह से कुछ ज्यादा ही राल टपकने लगती थी. मैं इसे मात्र संयोग ही कहूंगा कि वह क्रान्ति के चक्कर में पड़ गया था. जहाँ तक मैं समझ सका हूं क्रान्ति में उसकी रुचि हीन-ग्रन्थि के कारण पैदा हुई थी.

बचपन में ही माँ-बाप का देहान्त हो जाने के कारण उसका पालन-पोषण एक सम्पन्न रिश्तेदार के घर में हुआ था. सब प्रकार की भौतिक सुख-सुविधाओं के बावजूद इस एहसास से बचना उसके लिए सम्भव नहीं था कि वह बहरहाल दूसरों के टुकड़ों पर पल रहा है. इस एहसास ने उसके व्यक्तित्व में बहुत कटुता भर दी थी जो संभ्रान्त परिवार के तौर-तरीके सीख लेने के कारण विस्फोट के रूप में तो प्रकट नहीं होती थी लेकिन वह भीतर-ही-भीतर इस आग में झुलसता रहता था.

वह बहुत सम्वेदनशील था. मैं नहीं कह सकता कि यह सम्वेदन-शीलता उसके स्वभाव में ही निहित थी या उन परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हुई थी जिनका सामना उसे अपने जीवन में करना पड़ता था.

आत्म-प्रेम की प्रवृत्ति मेरे मित्र में बहुत प्रबल थी. यह भी शायद उसकी हीन-ग्रन्थि की ही देन थी. वह जिस अंदाज से हम लोगों से बात-

चीत करता था उससे सहज ही यह बात पता चल जाता था कि वह निश्चय ही अपने को हम सबसे काफी ऊपर समझता है. उसका यह अहंकार हम सबके लिए अक्सर बड़ा कष्टकर भी होता था. लेकिन उसके तौर-तरीकों और रंग-ढंग में हम लोगों को कुछ ऐसा जरूर नजर आता था जिससे हमें ईर्ष्या भी होती थी.

उसकी अनुपस्थिति मे हम लोग उसका बहुत मजाक उड़ाया करते थे. लेकिन उसके सामने उसकी आलोचना करने का साहस हममें से किसी को भी नही होता था. हम लोग अपनी इस असमर्थता या कायरता का औचित्य इस तर्क में ढूढ लेते थे कि "शेखी बघारता है तो बघारने दो, हमारा क्या बिगडता है. क्यों ख्वामख्वाह उससे उलझा जाए." लेकिन दरअसल हम तमाम लोग किसी-न-किसी हद तक उसके व्यक्तित्व से प्रभावित थे और शायद यह कहना गलत न होगा कि हम सब लोग उससे बहुत दबते भी थे.

इसमें सन्देह नही कि उन तमाम खामियों के बावजूद (सचमुच उसकी विशिष्टताएँ हमे कमियाँ ही दिखाई देती थी) जिसका जिक्र मैंने ऊपर किया है, उसकी बुद्धि हम लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रखर थी. कम-से-कम मुझे और मेरे कई दोस्तो को उन दिनों ऐसा ही लगता था. सम्पन्न, उच्च मध्यवर्ग के परिवार मे परवरिश होने के कारण उसके व्यक्तित्व में जो तड़क-भड़क आ गई थी वह मुझ पर और मुझ जैसे निम्न मध्यवर्ग के दूसरे व्यक्तियों पर अपना असर छोड़े बिना नही रहती थी.

मैं जहाँ मामूली पाजामा-कमीज पहनकर स्कूल जाता था वहाँ वह सफेद चमकदार हाफ-शर्ट और हाफ पैंट मे हम लोगों से कही ज्यादा स्मार्ट और रोबदार लगता था. उसकी जेब अक्सर चाकलेट और टॉफियों से भरी रहती थी. यह कोई ताज्जुब की बात नही थी कि क्लास मे उसकी सबसे ज्यादा दोस्ती अजमेरी से थी जो उसी की तरह बहुत टीम-टाम से रहता था.

स्कूल में पढ़ने के दौरान वह जैसी बातें किया करता था उन्हें सुनकर कोई यह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि वह कभी क्रान्ति जैसी खौफनाक चीज के चक्कर मे पड़ेगा. उन दिनो वह आई० सी० एस० बनने के

स्वप्न देखा करता था. डिप्टी कलक्टरी, मुनसिफी वगैरह की नौकरी को तो वह बहुत घटिया नौकरी समझता था. हालाँकि उसके फूफा जिन्होंने उसकी परवरिश की थी और जो उसकी लिखाई-पढ़ाई का सारा खर्च उठा रहे थे मुनसिफ ही थे और उन दिनों मुनसिफ का ओहदा भी कोई मामूली ओहदा नहीं था.

उसके इन मसूबों में भी मुझे शेखी की बू महसूस होती थी लेकिन एक तरह की हीनता का एहसास भी मुझे होने लगता था. आई० सी० एस० बनने का तो सवाल ही कहाँ उठता था. मैं तो ऐसे ख्वाब देखने की भी स्थिति में नहीं था.

स्कूल में हम दोनों का साथ बहुत दिनों तक नहीं रहा. उसके फूफा का कहीं और तबादला हो जाने के कारण उसे भी गया छोड़ देना पड़ा. इसके बाद लम्बे अरसे तक न तो उससे कभी भेंट हो सकी और न ही उसके बारे में मैंने कुछ सुना. वर्षों बाद एक रोज अचानक ही पटने में उससे मेरी मुलाकात हो गई. यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं थी कि हम दोनों ने एक-दूसरे को देखते ही पहचान लिया. इस बीच इतना समय बीत चुका था कि एक-दूसरे को न भी पहचान पाते तो कोई अचरज की बात न होती.

उसके व्यक्तित्व में वैसी ही तड़क-भड़क और चेहरे पर दंभ का वैसा ही भाव था जैसा स्कूल के दिनों में दिखाई देता था. फिर भी उसे देखकर मुझे ऐसा नहीं लगता था कि जिन्दगी में कोई बड़ी चीज हासिल करने में वह सफल हो गया है. और मेरा अनुमान सही निकला था. अलीगढ़ विश्वविद्यालय से बी० ए० करने के बाद उसने पढ़ाई छोड़ दी थी और जैसाकि उसने बताया, साबुन बनाने का एक छोटा-मोटा कारखाना खोल रखा था.

पटने में राहत (मेरे मित्र का नाम) से अक्सर मुलाकात होती रहती थी. यह देखकर मुझे कुछ ताज्जुब हुआ था कि वह पहले के मुकाबले में काफी बदल गया है. यह परिवर्तन खासा चौंकाने वाला था. अगर वह कोई बड़ा सरकारी अफसर हो गया होता या किसी फर्म में बहुत ऊँची पोस्ट पर होता या हवाई जहाज का पायलट बन गया होता तो मुझे जरा भी ताज्जुब न होता.

मुझे हैरत इस बात पर थी कि वह कम्युनिस्ट हो गया था और जितने समय तक हम दोनों साथ रहते वह ज्यादातर मार्क्स, ऐंजिल्स, लेनिन, स्टालिन, क्रान्ति, प्रोलतारी वर्ग, बूर्जुआ वर्ग वगैरह की ही बातें किया करता था. स्कूल के दिनों में मैं कभी सोच भी नहीं सकता था कि यह दंभी अपने को खानदानी रईस और ऐसा तीसमारखाँ समझने वाला व्यक्ति, कभी क्रान्ति और विद्रोह के खौफनाक खेल में भी पड़ सकता है.

लेकिन मेरा खयाल है कि राहत जैसे बहुत सारे नौजवान जो इस खेल में भाग ले रहे थे शायद इसे कोई खौफनाक खेल नहीं समझ रहे थे. क्रांतिकारी के रूप में उनकी भूमिका कुछ इसी तरह की थी जैसे किसी किशोर प्रेमी की अपनी प्रेयसी के सन्दर्भ में हो सकती है. क्रान्ति की प्रतीक्षा में उन्हें वैसा ही आनन्द अनुभव होता था जैसा प्रेयसी की प्रतीक्षा में. राहत भी क्रान्ति का ऐसा सुनहला चित्र खींचता था कि लगता था, क्रान्ति होने पर सचमुच यह दुनिया एक स्वर्ग में बदल जाएगी.

समाज की मान्यताएँ, वर्ग-संघर्ष, प्रोलतारी वर्ग का आधिपत्य, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था, साम्राज्यवाद—इन सबके बारे में बहुत विस्तार से वह मुझे बताया करता था. वह कहा करता था : "हमारा समाज वर्गों में बँटा हुआ है. पूंजीपतियों का वर्ग है, श्रमिक वर्ग है, मध्य वर्ग है पूंजीपति श्रमिक वर्ग का निरन्तर शोषण करता रहता है. मध्य वर्ग का भी वह शोषण करता है लेकिन यह वर्ग बहुत नपुंसक है. यह वर्ग कभी क्रान्ति नहीं ला सकता. क्रान्ति तो श्रमिक वर्ग ही ला सकता है. पूंजीपति वर्ग का शिकंजा इतना मजबूत है कि समाज का सारा ढांचा, समाज की तमाम मान्यताएँ उसकी स्वार्थ-सिद्धि का ही माध्यम बनी हुई हैं."

जिस अदाज से और जिस लहजे में वह ये सब बातें करता था उससे साम्यवाद की सचाई से ज्यादा वक्ता के अहकार का आभास होता था. लगता था, वह बताना चाहता है—"देखो, मैं तुम सबसे कितना आगे हूं. मैं कितने बड़े मसलों के बारे में सोचता हू. मैं औरो से कितना भिन्न हू."

उसका अहकार, उसकी आत्म-प्रेम की प्रवृत्ति उसके सिर पर चढ़कर बोलने लगती थी. वह अक्सर कहा करता था—"मैं बड़ी आसानी से

आई० ए० एस० में आ सकता हूँ (आई० सी० एस० की परीक्षाएँ बन्द हो चुकी थी और उनका स्थान आई० ए० एस० ने ले लिया था). लेकिन मैं अपने जीवन के लिए इतना मामूली, इतना साधारण लक्ष्य चुनना नहीं चाहता. मैं किसी ऊँचे लक्ष्य के लिए जीना चाहता हूं चाहे इसमें मुझे कितना ही कष्ट क्यों न झेलना पड़े."

हालांकि क्रान्तिकारी होते हुए भी वह जैसा जीवन बिता रहा था उसमें तकलीफ नाम की कोई चीज नहीं थी. कम-से-कम मुझे ऐसा ही लगता था. उसके मुकाबले में मुझे अपनी जिन्दगी कहीं अधिक कष्टकर और उबाऊ लगती थी. मैं बी० ए० पास करने के बाद ट्रांसपोर्ट अथारिटी के दफ्तर में क्लर्क की नौकरी कर रहा था और सवेरे से शाम तक ऐसी फाइलों से घिरा रहता था जिनमें लाखों करोड़ो रुपये के सौदे होते रहते थे किन्तु जिनमे मेरी कोई रुचि नहीं थी. शाम को दफ्तर से जब निकलता था तो दिमाग में जैसे भूसा भर जाता था. लगता था, जिन्दगी मे रस लेने, कुछ बनने या करने की सामर्थ्य ही मुझमें क्षीण होती जा रही है.

इसके विपरीत अपने मित्र को देखता था कि जीवन मे अब भी उसकी सक्रिय रुचि बनी हुई है. यह और बात है कि स्कूल के दिनो की अपेक्षा उसकी रुचि और महत्त्वाकांक्षा के दायरे कुछ बदल गए थे.

हम दोनो अक्सर ही किसी घटिया होटल या चाय की दुकान में बैठकर बातें किया करते थे. बात ज्यादा वही किया करता था. मेरी भूमिका अधिकतर श्रोता की ही होती थी. वह जिस अंदाज मे बातें किया करता था उसको देखते हुए मेरे लिए 'हाँ', 'हूं' से अधिक कुछ कहने की गुंजाइश नहीं रहती थी.

कभी-कभी वह अपनी आलोचना भी किया करता था. लेकिन उसके इस आत्मालोचन से आत्म-निरीक्षण की कम और आत्म-प्रशंसा की गंध ज्यादा आती थी. वह कहा करता था—"मुझ जैसे व्यक्ति के लिए एक समस्या यह भी रही है कि खुद को कैसे जल्दी-से-जल्दी डीक्लास किया जाए. मजदूर क्रान्तिकारी को इस समस्या से जूझना नहीं पड़ता. उसका वर्गगत चरित्र उसे सहज ही क्रान्तिकारी बना देता है. क्रान्तिकारी बनने के लिए उसे कोई कोशिश नहीं करनी पड़ती. लेकिन जो लोग मध्य वर्ग के

हैं उन्हें अपने को डीक्लास करना पड़ता है. इसके बगैर वे सच्चे क्रान्तिकारी नही बन सकते. उनके लिए अपने वर्गगत चरित्र को बदलना बहुत जरूरी है."

वह जो अक्सर कुरता-पाजामा और चप्पल पहने, एक हाथ में झोला थामे और बोहीमियन-सी सूरत बनाए घूमता-फिरता था तो शायद यह सब डीक्लास करने के ही सिलसिले मे था. या कभी-कभार सिग्रेट की बजाए बीड़ी पीने लगता तो यह भी शायद इसी सकल्प के कारण था. उसके जरिये मेरी मुलाकात और भी बहुत से क्रान्तिकारियो से हुई. इनमें मजदूर भी थे, मध्य वर्ग के लोग भी और कइयो का सम्बन्ध तो बहुत सम्पन्न घरानों से था. कोई मन्त्री का बेटा था तो कोई किसी मशहूर डॉक्टर का.

इन्हें देखकर मुझे आश्चर्य होता था कि इन्हें किस चीज की कमी है जो ये समाज को बदलना चाहते हैं. इन्कलाब तो इनके लिए सरासर घाटे का सौदा ही साबित होगा.

एक बार मैं अपने मित्र के साथ ऐसे ही एक सम्पन्न कामरेड के घर गया था. फ्रेजर रोड पर बड़ी शानदार कोठी थी. लम्बे-चौड़े ड्राइग रूम मे कामरेड बनर्जी ने हम दोनों का स्वागत किया. राहत ने छूटते ही कहा था—"कामरेड पहले चाय पिलाओ, फिर बातें होंगी."

नौकर बहुत खूबसूरत ट्रे में, और उतने ही खूबसूरत टी-सेट मे चाय लेकर आया था. चाय पीते हुए वह दोनों बातो मे लग गए थे और मैं ड्राइग रूम के रोबदार फर्नीचर और भारी-भरकम परदों के बीच घिरा हुआ कुछ सहमा-सहमा-सा बैठा दोनों की बातें सुन रहा था. पार्टी फंड इकट्ठा करने के लिए कोई सांस्कृतिक कार्यक्रम करने की योजना थी. संगीत, कविता-पाठ और एक नाटक खेलने का विचार था. इसके लिए टिकट छपवा लिए गए थे. बनर्जी ने टिकटों का एक बंडल राहत को देते हुए कहा था : 'सौ टिकट हैं पांच-पांच के. ज्यादा दाम के टिकट मैंने अपने पास रखे हैं."

उस रोज कामरेड बनर्जी के ड्राइंग रूम में क्रान्ति, सामाजिक परिवर्तन और वर्ग-संघर्ष की लम्बी-चौड़ी बहस के दौरान मुझे बार-बार यह

महसूस हुआ था कि अगर आदमी को रोटी-रोजी की चिंता न हो, घर में खाने-पीने और ऐश करने के लिए दौलत की कमी न हो तो इन्कलाब और वर्ग-संघर्ष की बातें भी कितनी मनोरंजक हो सकती हैं. तब इनमें भी वैसा ही लुत्फ और आनन्द आता है जैसा पहाड़ों पर गर्मी का मौसम बिताने मे या किसी खूबसूरत लड़की से इश्क करने में.

इस सांस्कृतिक कार्यक्रम का एक टिकट मुझे भी खरीदना पड़ा था. सत्तर रुपए के मासिक वेतन में से पाँच रुपए इस तरह निकल जाएँ तो सारा बजट ही डाँवाडोल हो जाता है. और इन सत्तर रुपयों में से चालीस रुपये तो हर महीने मुझे घर भेज देने पड़ते थे. तीस रुपए में बड़ी मुश्किल से अपना गुजारा हो पाता था. राहत ने जबर्दस्ती ही यह टिकट मुझ पर थोप दिया था.

नाटक प्रचारात्मक था जिसका न तो कोई साहित्यिक स्तर था और न ही अभिनय संतोषजनक था. मजदूरों की हड़ताल के इर्द-गिर्द नाटक घूमता था. किस तरह मिल-मालिक मजदूरों का शोषण करते है, मजदूर इस शोषण के खिलाफ लड़ने के लिए यूनियन बनाते है, हड़ताल करते हैं; किस तरह मिल मालिक के दलाल मजदूरों में फूट डालने की कोशिश करते है : अन्त में मजदूर की जीत होती है.

अभिनय की दृष्टि से तो नाटक और भी घटिया था. मजदूरों का रोल भी कॉलिज के पढ़े-लिखे नौजवानों ने किया था और लगता था कि ये पहली बार ही रंगमंच पर आए है नाटक के बाद कविताएँ पढ़ी गईं थी और अन्त मे संगीत का कार्यक्रम था.

राहत ने भी इस मौके पर दो कविताएं सुनाई थी. एक कविता की एक पंक्ति मुझे याद रह गई है .

कोई चाहे या न चाहे इन्कलाब आएगा दोस्त,
रात चाहे या न चाहे आफताब आएगा दोस्त.

दूसरी कविता की कोई पंक्ति मुझे याद नही रही. लेकिन उसका भाव कुछ इस तरह का था : क्रांतिकारी कवि अपनी प्रेयसी से निवेदन करता है कि वह मुहब्बत और शादी का खयाल छोड़कर अपना तन-मन-धन सब-कुछ क्रान्ति को समर्पित कर दे. जब तक क्रान्ति नही आती तब

तक वह प्रियतम के साथ ऐश की रातें कैसे गुज़ार सकता है. यह तो क्रान्ति के प्रति विश्वासघात होगा और इतिहास उसे इस अपराध के लिए कभी माफ नहीं करेगा.

जहाँ तक मुझे याद आता है श्रोताओं ने दोनों कविताओं को पसन्द किया था और खूब तालियाँ बजाई थी. सिर्फ ये कविताएँ ही नहीं, सारा कार्यक्रम ही उन्हें बहुत अच्छा लगा था. जितने भी लोग कार्यक्रम को देखने-सुनने के लिए आए थे, तकरीबन सब-के-सब सम्पन्न और खाते-पीते लोग थे. मुझ-जैसे दो-चार निम्न मध्य वर्ग के श्रोताओं को छोड़कर सभी ऐसे थे जिन्हें क्रान्ति की दरअसल कोई आवश्यकता नहीं थी. सभी के चेहरों से बेफिक्री और निश्चितता फूटी पड़ती थी फिर भी ये क्रान्ति के इच्छुक थे, इस समाज को जिसमें उन्हें हर तरह की सुख-सुविधा मिली हुई थी. *बदलना चाहते थे—यह स्थिति अपने-आप में एक विरोधाभास से* कम नहीं दीखती थी.

यह दौर पार्टी के लिए बड़ा ही सुनहला दौर था. सुनहला इस दृष्टि से कि पार्टी ने जो लाइन अपनाई थी उससे सरकार को कोई खतरा महसूस नहीं होता था. खासतौर से पार्टी के उन कार्यकर्ताओं के लिए जो सांस्कृतिक मोर्चे पर काम कर रहे थे ये बहुत अमन-चैन के दिन थे. मुँह में पाइप दबाए मार्क्स, लेनिन और स्टालिन का साहित्य पढ़ते रहना, साहित्यिक गोष्ठियों का आयोजन करना, साल में दो-चार बार मजदूरों की बस्तियों में जाकर कविता-पाठ करना, नाटक खेलना और उनके साथ बैठकर दो-चार बीड़ियाँ पी लेना और उस क्रान्ति की प्रतीक्षा करते रहना जिसके आते ही सारी दुनिया एक जीता-जागता स्वर्ग बन जाएगी!

राहत-जैसे नौजवानों को यह ज़िन्दगी बहुत अच्छी लगती थी. समाज जिस घिसे-पिटे रास्ते को मान्यता देता था उस रास्ते पर ये नहीं चल रहे थे. लीक से हटकर चलने में जिस गर्व और आत्म-तुष्टि का एहसास होता है वह इन्हें भी होता था. और मज़े की बात यह थी कि आम रास्ते से हटकर चलने में अक्सर जिस जोखिम का सामना करना पड़ता है वह इन्हें झेलना

नही पड़ रहा था. ये विद्रोही भी थे और विद्रोह की कोई कीमत भी इन्हें चुकानी नही पड रही थी. इनमें से अधिकतर खाते-पीते परिवार के थे और जो गरीब खानदान के थे उन्हें अपने इन सम्पन्न और खुशहाल साथियों की संगत से एक प्रकार के गौरव का अनुभव होता था

एक रोज राहत मेरे पास आया और कहने लगा : "मैं शादी कर रहा हूँ." यह सुनकर मुझे थोड़ा ताज्जुब हुआ. वह मुझसे कई बार कह चुका था कि शादी के चक्कर में फँसने का उसका कोई इरादा नही है. "भाई मैं तो पार्टी मेम्बर हूँ. जब तक इंकलाब नही आता मैं शादी नही करूँगा. और अगर कभी शादी करने का खयाल हुआ भी तो ऐसी लड़की से करूँगा जो इस लड़ाई में पूरी तरह से मेरा साथ दे सके."

मैंने सोचा, शायद उसे ऐसी कोई लड़की मिल गई है. लेकिन बात कुछ और ही निकली. वह ऐसी लड़की से शादी करने को सोच रहा था जो बहुत ही घरेलू किस्म की थी और सात परदों में रहती थी. लड़की के घरवाले भी बहुत पुराणपंथी थे. उस लड़की ने या उसके माँ-बाप ने न तो इंकलाब का कभी नाम सुना था और न ही उन्हें उस पार्टी से कोई दिलचस्पी थी जो इंकलाब लाना चाहती थी. यह बात तो मुझे बाद मे मालूम हुई कि यह शादी बहुत दिलचस्प हालात में तय हुई थी और इसकी हैसियत एक अच्छे खासे बिजनेस डील की थी.

दरअसल बात यह थी कि राहत का साबुन का करोबार ठीकठाक नही चल रहा था और उसे निरन्तर घाटा हो रहा था. नौबत यहाँ तक पहुँच गई थी कि कारोबार को बन्द करने के अलावा कोई और रास्ता नही रह गया था. राहत ने अपनी सारी पूंजी इसमें लगा दी थी. खुद अपने एक रिश्तेदार के साथ रहा करता था जो बहुत दौलतमंद थे. खाने-पीने पर तो उसका खर्च न होता था लेकिन घर के रईसाना माहौल को देखते हुए उसे ऊपरी खर्च के लिए काफी पैसों की जरूरत पड़ती थी. उसके ये रिश्तेदार जिन्हें वह सद्दू भाई कहा करता था पटना ला-कॉलेज में लेक्चरर थे और साथ ही हाईकोर्ट में प्रैक्टिस भी करते थे. नौकरी और प्रैक्टिस की आम-

दनी के अलावा जमीन-जायदाद भी बेहिसाब थी. पटना शहर में ही कई बँगले थे और देहात में सैकड़ों बीघा जमीन थी जिससे हजारों रुपए की आमदनी होती थी.

राहत के साथ सद्दन भाई के यहाँ अकसर मैं भी जाया करता था एक्जिबीशन रोड पर उनका बहुत ही खूबसूरत बँगला था. सद्दन भाई का जीवन बड़ी व्यस्तता में बीतता था. सवेरे उठते ही मुकदमे के कागज देखने मे लग जाते. फिर हाईकोर्ट चल देते. शाम को उन्हें ला कॉलेज जाना पड़ता था जहां से वह रात के नौ-दस बजे लौटते थे. ऐसी व्यस्तता में घर के लोगों से बात तक करने तक की फुरसत उनको नहीं मिलती थी. लेकिन उनकी पत्नी के पास वक्त की कोई कमी नहीं थी. घर में अनेक नौकर-चाकर थे. खाना पकाने के लिए बावर्ची, बाजार से सौदा सुलुफ लाने के लिए नौकर, बच्चों की देखभाल के लिए आया, घर के दूसरे कामों के लिए कई नौकरानियां. सद्दन भाई की पत्नी के लिए घर में कुछ भी करने को नहीं था. वक्त काटना उनके लिए मुश्किल हो जाता था.

सद्दन भाई की पत्नी के लिए खूबसूरत विशेषण का प्रयोग करना उनकी खूबसूरती का अपमान करना है. ऐसा अद्‌भुत सौन्दर्य मुझे बहुत कम देखने को मिला है. रिश्ते में यह राहत की भाभी लगती थी लेकिन जाने क्यों राहत इन्हें रफीका बूबू कहा करता था. मैं अगर यह कहूं कि उनका चेहरा गुलाब के फूल की तरह खिला रहता था तो यह एक बेहद घिसी-पिटी उपमा होगी जिससे उनके भव्य चेहरे की सही कल्पना नहीं की जा सकती.

उनकी खूबसूरती कुछ ऐसी बेदाग किस्म की और इतना रौबदाब लिए हुए थी कि उनकी तरफ निगाह उठाने तक की हिम्मत नहीं होती थी. संभव है मेरा ऐसा सोचना मेरी हीन की भावना के कारण हो.

रफीका बूबू पटने की उन गिनी-चुनी मुसलमान औरतों में थी जिन्होंने अंग्रेजी स्कूल में शिक्षा प्राप्त की थी और जो फर्राटे से अंग्रेजी बोल सकती थी. घर का रहन-सहन बहुत बड़ी हद तक अंग्रेजी ढग का था. आम शरीफ मुसलमान घरानों की तरह उनके यहां लोग दस्तरख्वान पर खाना

नही खाया करते थे, बल्कि मेज-कुर्सी का इस्तेमाल किया जाता था. परदा नाम की कोई चीज इस घर में नही थी. पटने के मशहूर क्लबों और होटलों मे रफीका बूबू अक्सर जाया करती थी. बंगले के कम्पाउण्ड मे बैडमिन्टन का कोर्ट था जहां पड़ोस की औरतों के साथ वह रोज शाम को बैडमिंटन खेलती थी.

राहत अपनी भाभी मे बहुत बेतकल्लुफ था और शायद वह भी उससे गहरा लगाव महसूस करती थी. वे दोनों जिस तरह आपस में बातें करते थे उससे मेरे मन में अक्सर ही संदेह उत्पन्न होता था. लेकिन मैं नहीं कह सकता कि मेरा यह सन्देह कहा तक उचित था. हो सकता है मेरा ऐसा सोचना भी मेरी कुंठाओं के कारण हो. राहत से कुछ नही तो दस साल जरूर बड़ी होंगी. यह और बात है कि अपनी उम्र से वह बहुत छोटी दीखती थी.

राहत अपनी समझ के मुताबिक रफीका बूबू को भी राजनीति की शिक्षा दे रहा था और उन्हें भी अपने सांचे में ढालने की कोशिश कर रहा था. उनको भी यह नया व्यसन अच्छा लगा था. मार्क्सवाद और क्रांति के बारे में उनका सारा ज्ञान राहत की बताई हुई बातों तक सीमित था. स्वयं किताबें पढ़कर कुछ जानने का झमेला उन्होंने मोल नही लिया था. राहत उन्हे ज्ञान का ऐसा अपार सागर दिखाई देता था कि किताबो मे ज्ञान के मोती ढूंढना उन्हें निरर्थक कार्य लगता था. हां कभी-कभार वह ऐसी पत्रिकाएँ जरूर उलट-पुलट कर देख लिया करती थी जिनमे क्रांतिकारी साहित्य छपा करता था.

वह अक्सर अडोस-पड़ोस की संभ्रांत महिलाओं के सामने अपने राजनीतिक ज्ञान का प्रदर्शन करती थी. ये तमाम महिलाएँ जो बड़े अफसरों की पत्नियां थी, हैरत से उनकी बातों को सुनती और उनकी समझ में नही आता था कि वे अपनी इस खूबसूरत सहेली की अक्ल और समझ पर अफसोस करें या उसकी बातों को पागल की बड-बड समझकर खामोश रहे.

मैं जब कभी राहत के साथ उनके यहां जाता और वह इन महिलाओं को बुर्जुआ कहकर इनका मजाक उड़ाती तो मुझे उन पर हंसी आ जाती.

वह सारा वार्तालाप राहत को सुनाती और राहत उन्हें बताता कि मार्क्स-वाद की दृष्टि से उनकी कौन-कौन-सी बातें गलत थी.

ऐसे अवसरों पर रफीका बूबू मुझे बेहद दयनीय दिखाई देती थीं. उनकी हालत उस छात्र की होती थी जो शिक्षक की वाहवाही लेने को खातिर खूब लहक-लहककर अपना सबक सुनाता है लेकिन जिसकी झोली में वाहवाही के बदले भर्त्सना आती है. राहत की यह क्रूरता मुझे भी खलने लगती थी.

रफीका बूबू के यहाँ आकर अक्सर क्रांतिकारी साहित्यकारों की गोष्ठियां हुआ करती थी जिसमें राहत मुझे भी घसीट कर ले जाता था. इन गोष्ठियों मे कविता-कहानियाँ सुनाई जाती जिन पर खूब गरमागरम बहस हुआ करती थी. वे गोष्ठियाँ एक तरह से इंकलाब की प्रयोगशालाएँ थी जहाँ साहित्यिक रचनाएँ इस कसौटी पर परखी जाती थी कि ये रच-नाएँ क्रांति लाने में किस सीमा तक सहायक हैं.

ऐसी एक गोष्ठी में एक बार एक नया कवि आया था और उसने अपनी एक कविता सुनाई थी जिसका शीर्षक था 'वेश्या.' इस कविता मे वेश्या की दुर्दशा का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया था और उसे एहसास दिलाया गया था कि उसके अपमान-ग्रस्त जीवन का कारण पूंजी पति है जो एक ओर तो उसका शोषण करता है और दूसरी ओर श्रमिक वर्ग का. अन्त में कवि ने वेश्या को संदेश दिया था कि उसे मजदूरों के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर शोषक वर्ग के खिलाफ मोरचा सम्हाल लेना चाहिए.

दरअसल इस कविता के लिखने की प्रेरणा इस कवि को राहत से ही मिली थी. वरना वह अपनी प्रेरणा से तो सीधी-साधी प्रेम-कविताएँ ही लिखा करता था. और वेश्याओं के बारे में तो उसका ज्ञान शून्य था. बेहद शरीफ किस्म का आदमी था जिसे किसी लड़की से बात करने का साहस तक कभी नहीं हुआ था. राहत ने ही उसे बताया था कि वह जैसी प्रेम-कविताएँ लिखता है उनका जमाना लद चुका है. वह अपनी कविता में दम पैदा करना चाहता है तो उसे उनमें क्रांति की कुछ घनगरज लाने की कोशिश करनी चाहिए. इसमे संदेह नहीं कि कवि ने अपनी पहली क्रांति-

कारी कविता में ही काफी घनगरज पैदा की थी और एक को छोड़कर सबने ही कविता की बहुत प्रशंसा की थी,

लेकिन वह एक व्यक्ति जिसने अपनी निर्मम आलोचना से कविता की धज्जियां बिखेर दी थीं ऐसा मूजी आलोचक हुआ कि बेचारे कवि की तो जो दुर्गति हुई सो हुई, दूसरे प्रशंसकों के चेहरों पर भी हवाइयां उड़ने लगी थी.

यह आलोचक पहले तो सबकी बातें सुनता रहा था. जब तमाम लोग अप-अपने विचार प्रकट कर चुके थे तो उसने बहुत नपे-तुले अन्दाज में कहना शुरू किया : "मुझे इस कविता को सुनकर बहुत निराशा हुई. निराशा से अधिक मुझे रोष हुआ. यह कविता किसी भी दृष्टि से क्रांतिकारी कविता नहीं कही जा सकती. इसके विपरीत यह प्रतिक्रांतिकारी यानी काउन्टर रेवेल्युशनरी कविता है. कवि वेश्या से क्रांति के लिए लड़ने की अपील करता है. क्रांति का इससे अधिक अपमान और क्या किया जा सकता है कवि का बौद्धिक दिवालियापन इसी बात से सिद्ध हो जाता है कि वह वेश्या से साम्यवाद से लड़ने की आशा रखता है. कामरेड लेनिन ने साफ शब्दों में कहा है कि वेश्या कभी क्रांतिकारी हो सकती. शरीर बेचने के कारण वह मनुष्य नहीं रह पाती. वह एक कमोडिटी मात्र बन जाती है."

इस आलोचना को सुनकर सबको जैसे सांप सूंघ गया था. राहत भी बगलें झांकने लगा था. उसे अपनी सुबकी का एहसास इसलिए और भी ज्यादा हो रहा था कि रफीका बूबू की उपस्थिति में ही उसके ज्ञान का परदा फाश हो गया था. वह अन्दर-ही-अन्दर बहुत तिलमिला रहा था लेकिन इस आलोचक से उलझने की हिम्मत उसे नहीं हो रही थी. उसने इतनी बड़ी अथॉरिटी को कोट किया था कि उससे बहस करना अपनी और छीछालेदार करवाना होगा. राहत को इसमें जरा भी सन्देह नहीं था कि उसका प्रतिद्वन्द्वी उससे यकीनन बहुत ज्यादा तगड़ा है और वह जरूर ही उसे पछाड़ देगा. यही सब सोचकर वह खून के घूंट पीकर रह गया था.

हालांकि यह कविता साहित्यिक दृष्टि से बहुत घटिया स्तर की थी

इसकी प्रशंसा में जो विचार व्यक्त किए गए थे वे भी बहुत गैर साहित्यिक और बचकाना थे और इसकी निन्दा जिस स्तर पर की गई थी वह भी कुछ कम हास्यास्पद नही था. लेकिन सारा व्यापार ऐसे गंभीर वातावरण में हो रहा था कि लगता था, दुनिया में इससे बड़ी कोई और सचाई नही हो सकती.

इस गोष्ठी में बेचारे कवि की जो दुर्गति हुई थी वह देखने लायक थी वह किसी कॉमेडी का अच्छा-खासा जोकर नजर आ रहा था—ऐसा जोकर जिसे पहले तो आसमान पर चढ़ा दिया गया था और फिर एका-एक जमीन पर पटक दिया गया था. इस तरह सहसा पटक दिए जाने पर वह हतप्रभ-सा दिखाई दे रहा था. उसकी हालत उस पहलवान की हो रही थी जो बड़े विश्वास के साथ अखाड़े में उतरा था. लेकिन पहली ही मुठभेड में चारों खाने चित्त कर दिया गया था.

इस कवि का नाम राशिद था और इसी की बहन से राहत के रिश्ते की बात चल रही थी.

राशिद मेरा और राहत का हमउम्र था. कायदे से उसे उस समय तक बी० ए० कर लेना चाहिए था. लेकिन या तो पढ़ाई-लिखाई मे तेज न होने के कारण या इस कारण से कि साहित्य का नशा उस पर कुछ ज्यादा ही चढ़ा हुआ था. वह आई० एस० सी० में ही कई वर्षों से फेल हो रहा था.

अलीगढ में वह और राहत सहपाठी थे और एक ही होस्टल में रहा करते थे. राहत तो थर्ड डिवीजन मे बी० एस० सी० करके पटने आ गया था. लेकिन राशिद इन्टर साइन्स मे कई बार लुढक चुका था. वह हर साल परीक्षा से तीन-चार महीने पहले अलीगढ चला जाता और परीक्षा देकर पटने लौट आता.

मैं नहीं कह सकता कि कविता लिखने का शौक उसे राहत की सगत के कारण हुआ था या बहुत छोटी उम्र में ही उसने यह रोग पाल लिया था, मुमकिन है कि कविता मे उसकी रुचि उस सामन्ती माहौल की देन रही हो जिसमें उसकी परवरिश हुई थी.

पटना सिटी में मेन रोड पर ही उसका बहुत बड़ा दुमजिला मकान

था. निचले हिस्से में ज्यादातर दुकानें थी. ऊपर की मंजिल रिहाइश के काम आती थी. सड़क के दूसरी तरफ मकान के ठीक सामने वेश्याओं के कोठे थे. मैं राशिद के यहाँ पहली बार गया था तो इन वेश्याओं को देखकर मुझे उसकी वह कविता याद आ गई थी जो उसने गोष्ठी में सुनाई थी. हो सकता है कि राहत की प्रेरणा के साथ-साथ इन वेश्याओं ने भी उसे यह कविता लिखने के लिए उकसाया हो.

राशिद के अब्बा बहुत पुराने विचारों के और बेहद दकियानूसी आदमी थे. राहत के रहन-सहन और राशिद के घर के रहन-सहन में जमीन-आसमान का फर्क था फिर भी राहत उसकी बहन से शादी करने को तैयार था. शादी के बारे में उसके जो विचार थे उनको देखते हुए यह बात कुछ अजीब-सी लगती थी. लेकिन जब इस सिलसिले में मुझे तमाम बातें मालूम हुई तो मामले की तह तक पहुँचने मे मुझे कोई दुश्वार नही हुई.

इस सम्बन्ध में राहत के व्यक्तित्व के कुछ विशेष पक्षों के बारे में लिखना आवश्यक दिखाई देता है. वह विचारों से क्रांतिकारी जरूर था. लेकिन आत्म-प्रदर्शन और अहमन्यता का रुझान उसमे इतना प्रबल था कि कोई कभी उसका विरोध करता या उसकी राय से असहमति प्रकट करता तो यह बात उसके लिए असह्य हो जाती थी.

अनियन्त्रित अहंकार के कारण उसका रवैया कभी आक्रामक भी हो जाया करता था. सैद्धांतिक स्तर पर वह जात-पात का कायल नही था. लेकिन वह यह बात कभी नहीं भूल पाता था कि उसका जन्म एक बहुत ऊँचे सैयद खानदान में हुआ है. अपने व्यक्तित्व के इस अन्तर्विरोध को वह जितना छिपाने की कोशिश करता था उतना ही वह सिर पर चढ़कर बोलने लगता था.

राशिद की बहन से शादी तय हो जाने के बाद ही उसने मुझसे कहा था : "जानते हो ये लोग लूप लाइन के हैं- अगर मैंने मार्क्सवाद का अध्ययन न किया होता और पार्टी के निकट न आया होता तो मैं यह शादी करने को कभी तैयार न होता. इनकी जात मेरे मुकाबले में बहुत घटिया है. ये खुद को सैयद तो कहते हैं लेकिन दरअसल सैयद नहीं है."

उसके मुंह से यह सब सुनकर कोई भी आदमी यह महसूस कर सकता था कि यह शादी भी उसके अहं की तुष्टि का एक जरिया बनने जा रही है. वह जैसे लोगों को दिखाना चाहता था कि देखो मैं कितना उदार कैसा सच्चा मार्क्सवादी हूं कि जात-पात की जरा भी परवाह नहीं करता. लेकिन हकीकत यहीं तक सीमित नहीं थी.

राशिद के अब्बा को यह एहसास तंग करता रहता था कि लोग उन का शुमार असली और खरे सैयदों में नहीं करते. धन-दौलत की उनको कोई कमी नहीं थी. लाखों रुपए बैंक में जमा थे. पटना शहर में ही दरजनों मकान थे. लेकिन यह चुभन उन्हें सालती रहती थी कि लोग उन्हें पैबन्दी और नकली सैयद मानते हैं. मुझे बड़ी हैरत होती थी कि यह व्यक्ति जिसके पास लाखों रुपए हैं और जो दुनिया में हर तरह से ऐश कर सकता है इस प्रकार की ग्रन्थि से पीड़ित है.

लेकिन हर ग्रंथि-ग्रस्त व्यक्ति की तरह उनकी मानसिक बनावट भी कुछ इस तरह की हो गई थी कि उसमें कोई परिवर्तन लाना उनके लिए संभव नहीं रहा था. उनके सोचने-समझने का एक खास दायरा बन गया था. इस दायरे से निकलकर कुछ सोच सकना उनके लिए नामुमकिन था.

नीचे सीढ़ियों के दरवाजे के पास एक तख्ती लगी रहती थी जिस पर मोटे अक्षरों मे लिखा हुआ था "सैयद अहमद एडवोकेट." लोगों का कहना था कि तख्ती पर लिखे इन चार शब्दों में केवल बीच के दो शब्द ही सही माने जा सकते थे. पहला शब्द यानी "सैयद" यू सही नहीं था कि वह सैयद नहीं थे और आखिरी शब्द भी कुछ बे-माना सा ही था क्यों कि उन्होंने जिन्दगी में कभी प्रैक्टिस नहीं की थी.

वैसे वह रोज कचहरी जरूर जाया करते थे. लेकिन कचहरी में उनकी रोज की हाजिरी वकील की हैसियत से नहीं बल्कि अक्सर अपने मुकदमों की पैरवी के सिलसिले में होती थी. कचहरी जाना उनका स्वभाव-सा बन गया था. कोई मुकदमा या कोई और काम न होता तो भी दिन-रात वह कचहरी के बरामदे में मंडराते रहते.

मुकदमों का यह झमेला भी उन्होंने खुद मोल लिया था. उनका खान दान जमींदारों का खानदान नहीं था. उनके बाप व्यापारी थे और उनका

व्यापार बहुत फैला हुआ था. ज्यादातर व्यापार कलकत्ता और बम्बई में होता था. पटने में मकान-जमीन के अलावा कोई व्यापार नहीं था. उनके मरने के बाद जब जमीन-जायदाद का बँटवारा हुआ तो सैयद तुफैल अहमद ने अपने हिस्से में पटने की जमीन-जायदाद और नकद रुपए लेना पसंद किया. हालांकि उनके लिए यह घाटे का सौदा था क्योंकि व्यापार में बहुत ज्यादा आमदनी होती थी.

लेकिन तुफैल अहमद को शायद तिजारत से उलझन होती थी या शायद वह खुद को इस काम के योग्य नहीं समझते थे. हो सकता है कि व्यापारी कहलाने की अपेक्षा वह रईस कहलाना ज्यादा पसन्द करते हों और इसी कारण उन्होंने व्यापार में हिस्सा लेना स्वीकार न किया हो। उनकी इस इच्छा का प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि ऐसे समय में जमींदारी-प्रथा के खत्म होने की खबरें फिजा में गूंज रही थी और बड़े से जमींदार जमीदारी का मोह छोड़कर व्यापार में जा रहे थे तुफैल अहमद जमीदारी खरीदने में लगे हुए थे. सबको ताज्जुब होता था कि यह शख्स खपलों में घी डाल रहा है और बाप की कमाई हुई दौलत को इस तरह लुटा रहा है.

तुफैल अहमद पटना सिटी के रईसोंऔर जमादारों के साँचे में खुद को ढालना चाहते थे. यह कोशिश वह ऐसे जमाने में कर रहे थे जब रईस और जमादारों का वक्त लद चुका था.

उन्होने बड़ी मेहनत से अपने खानदान का एक शजरा (वंशवृक्ष) तैयार किया था जिसके मुताबिक वह और उनके पुरखे सौ फीसदी सैयद ठहरते थे यह शजरा उन्होने छपवा लिया था. पटना सिटी के सैयदों में इस शजरे का मजाक उड़ाया जाता था. वे इन्हें किसी भी तरह अपनी जात-बिरादरी में शामिल करने को तैयार नहीं थे.

- लेकिन ये आली खानदान रईस अपने को चाहे जितना भी अभिजात और कुलीन समझते हों जहाँ तक माली हालत का सम्बन्ध है ये तुफैल अहमद की बराबरी नही कर सकते थे. इस मामले में उन्हें अक्सर बड़ी सुबकी और बेइज्जती का सामना भी करना पड़ता था. यतीमखाने का

चन्दा हो या मस्जिद के लिए रकम देनी हो या मुहल्ले के गरीबों की मदद करनी हो तो तुर्फैल अहमद जिस तरह दिल खोलकर रुपया देते थे उस तरह खर्च करना इन मिटे हुए रईसों के वश की बात नहीं थी. इसलिए ये तुर्फैल अहमद से मन-ही-मन बहुत जलते थे. ये जो उन पर इतनी फबतियां कसते थे या इतना व्यंग्य करते थे तो इसमें निश्चय ही उनके ईर्ष्या-भाव का भी बहुत हाथ था.

तुर्फैल अहमद को रईस बनने और दिखाई देने का शौक तो जरूर था और इसके लिए वह एक की जगह चार पैसे खर्च करने को तैयार भी रहते थे लेकिन इस शौक के बावजूद उनमें वैसी फिजूलखर्ची की आदत नहीं थी जैसी कि बहुत सारे खानदानी रईसों में होती है और जिसके कारण वे आखिरकार तबाह-बरबाद हो जाते हैं-

बटेर-बाजी या नाच-गाने का शौक जो रईसों के आम शौक थे उन्हें बिलकुल नहीं था. मकान के उस हिस्से मे जो वेश्याओं की तरफ पड़ता था तमाम खिड़की-दरवाजे न सिर्फ हमेशा बन्द रखे जाते थे बल्कि उन पर बहुत मोटे टाट के परदे पड़े रहते थे. क्या मजाल जो घर का कोई आदमी कभी बाहर सड़क पर ताक-झांक कर सके.

रईसो की नकल करने के अलावा वह इस बात के लिए भी बहुत लालायित रहते थे कि लोग उनकी शुमार सैयदों में करें. धन-दौलत का लालच देकर वे अपनी दो बेटियों की शादी खरे सैयदों मे कर चुके थे. अब वह तीसरी बेटी का ब्याह करना चाहते थे और इसके लिए उन्हें कोई अच्छा-सा सैयद खानदान का लड़का चाहिए था. उन्ही दिनो राशिद के माध्यम से उन्हें राहत को देखने और समझने-परखने का मौका मिला.

राहत के खानदान और जात वगैरह की जानकारी उन्होंने कई जरियों से हासिल की और उसके शजरे और हसब-नसब के बारे में सुनकर उनके मुंह मे सचमुच पानी भर आया. लड़का जात और खानदान के हिसाब से बेजोड़ था. असली सैयद था और कही भी किसी पैबन्द का नामोनिशान नहीं था. थोड़ी-सी कसर थी तो यह कि लड़के की आर्थिक स्थिति ठीक-ठाक नही थी. एक और बुरा पक्ष यह था कि लड़का कुछ खब्ती किस्म का था क्योंकि खब्ती न होता तो क्रांतिकारी के चक्कर मे क्यों फंसता. लेकिन इन खामियो के बावजूद उन्हें राहत बहुत पसन्द आया था और किसी भी

कीमत पर वह यह सुनहरा मौका हाथ से जाने देना नही चाहते थे.

राशिद ने जब राहत से इसकी बात चलाई तो उसने पहले तो साफ इनकार कर दिया. उसने राशिद से कहा—"तुम मेरे विचार जानते हो. मैंने अपना सब कुछ पार्टी को समर्पित कर दिया है. भला मैं शादी कैसे कर सकता हूँ. शादी करने का मतलब है कि मैं पार्टी-को छोड़ दूँ और घर-गृहस्थी के झमेले में पड़ जाऊँ. नही भाई मुझसे यह कभी नहीं हो सकता."

लेकिन जब राशिद ने अपने अब्बा की राय जान लेने के बाद उसे यह विश्वास दिलाया कि शादी की वजह से उसे किसी आर्थिक कठिनाई का सामना नही करना पड़ेगा और दोनो के निर्वाह के लिए उचित व्यवस्था कर दी जाएगी तो उसका रवैया कुछ नर्म पड़ गया. उन दिनों साबुन का कारोबार चौपट हो जाने के कारण वह बहुत परेशान भी था. उसने सोचा कि शादी करके वह इस संकट से निकल सके तो क्या बुरा है. लेकिन महज आश्वासन से उसको तसल्ली नही हो रही थी. उसने राशिद से कहा कि इस सम्बन्ध मे कोई ठोस प्रस्ताव वह उसके सामने रख सके तो वह जरूर उस पर गम्भीरता से विचार करेगा.

उसने राशिद से यह भी कहा कि उसका शादी करने का कोई इरादा नही था और वह अगर उसके प्रस्ताव पर गम्भीरता से विचार करने को तैयार है तो इसका एकमात्र कारण यही है कि वह अपने मित्र की—जो उसका राजनीतिक मित्र भी है—सहायता करना चाहता है लेकिन वह एक खास सीमा तक ही कुरबानी कर सकता है. यदि यह कुरबानी इतनी महँगी साबित हो कि उसे उन आदर्शों की ही बलि देनी पड़े जिसके लिए जीने-मरने का सकल्प वह कर चुका है तो ऐसी कुरबानी के लिए वह कभी तैयार नहीं होगा.

उसने राशिद को परोक्ष किन्तु स्पष्ट रूप से यह भी बता दिया कि उसका खानदान हसब-नसब के लिहाज से इतना ऊँचा है कि आम तौर पर दोनों खानदानों के बीच ऐसे रिश्ते की कल्पना भी नही की जा सकती यह और बात है कि उसकी इंकलाबी विचारधारा जात-पात के बन्धनों को स्वीकार नही करती क्योंकि जाति-भेद की धारणा मूलतः एक सामंती

धारणा है.

राहत ने शादी के सिलसिले मे और भी कई शर्तें रखी थी जो सब-की-सब मान ली गई. आपसी बातचीत के जरिए तय यह पाया गया कि गहने-कपड़ों के अलावा तुफैल अहमद अपनी बेटी को एक्जिबीशन रोड पर एक मकान भी देंगे जो उस समय पांच सौ रुपए महीना किराए पर उठा हुआ था. जब तक राहत अपनी मर्जी से ही बीवी को कहीं और रखना न चाहे वह बाप के घर में ही रहेगी. राहत से कभी यह आग्रह नहीं किया जाएगा कि वह कोई नौकरी या व्यापार करे. उसे पूरी स्वतन्त्रता होगी कि वह जहां और जिस तरह चाहे रहे. अगर वह ससुराल में ही रहना चाहे तो इसमें भी किसी को कोई आपत्ति नहीं होगी. शादी का सारा खर्च जिममें राहत की तरफ से होने वाला खर्च भी शामिल है लड़की वाले ही बरदाश्त करेंगे.

राहत की पांचो उंगलियां घी में था. इन सबके एवज मे एक मामूली सी कुरबानी देनी पड़ रही थी यानी उसे ऐसी ऐसी लड़की से विवाह करना पड रहा था. जो हसब-नसब में उसकी बराबरी नहीं कर सकती थी.

मजे की बात यह थी कि ये तमाम शर्तें मानकर भी तुफैल अहमद फूले नही समाते थे. इतना सब कुछ देने के बावजूद यह सौदा उन्हें बहुत सस्ता दिखाई दे रहा था. हड्डी जैसी अनमोल वस्तु उन्हें इतने सस्ते दामों मिल रही थी. दो बेटियों का विवाह वह खालिस सैयदों में कर चुके थे. अब तीसरी बेटी की शादी किसी ऐसे वैसे खानदान मे करनी पड़ती तो सारे किए-कराए पर पानी फिर जाता.

जाहिर है कि यह सारी तफसील मुझे राहत से मालूम नहीं हुई थी. उससे इसकी आशा भी नहीं की जा सकती थी. उसने तो मुझे इतना ही बताया था कि वह गैर-बिरादरी मे शादी कर रहा है और यह रिश्ता स्वीकार करके उसने तमाम प्रतिक्रियावादियों के मुंह पर जबर्दस्त तमाचा मारा है जो जाति-प्रथा को इतना महत्त्व देते हैं.

राहत की शादी में मैं भी शरीक हुआ था. उसके रिश्तेदारों के अलावा बहुत सारे कामरेड भी आए थे. जब खाना खाकर लोग जाने लगे तो एक

कामरेड ने उससे कहा था : "कामरेड शादी मबारक हो, लेकिन मैं समझता था कि तुम क्रांति के बाद ही शादी करोगे."

मुझे उसकी यह बात सुनकर हँसी आ गई थी. लेकिन राहत का चेहरा बहुत गम्भीर हो गया था लगता था, कामरेड ने उसकी दुखती रग पकड़ ली थी. तीव्र आंतरिक पीड़ा से बिलबिलाते हुए उसने धीरे से मुझ से कहा था—"उसने ठीक ही कहा है." राहत की यह प्रतिक्रिया देखकर मुझे पहले से भी ज्यादा जोर से हँसने का मन हुआ था.

राहत की आर्थिक स्थिति अब काफी सुधर गई थी. उसकी पत्नी अपने मायके में ही रहा करती थी. हर महीने मकान के किराए के पांच सौ रुपए राहत को मिल जाते थे जो उसके ऊपरी खर्च के लिए काफी थे. शादी के बाद भी वह ज्यादातर रफ़ीका बूबू के यहां ही रहा करता था. पटना सिटी का, और खासतौर से ससुराल का माहौल उसे पसन्द नही था.

लेकिन जल्दी ही ऐसा महसूस होने लगा कि बेफिक्री और अमन-चैन के ये दिन शीघ्र ही खत्म होने वाले हैं. बड़े अजीब से, भयभीत करने वाले समाचार मिल रहे थे. पार्टी की लाइन बदल रही है. लीडरशिप मे फूट पड़ गई है. एक बड़ा गिरोह मौजूदा लाइन से सन्तुष्ट नहीं है. वह वर्तमान नेताओं पर दक्षिण पंथी होने का आरोप लगा रहा है. उसका कहना है, इस सुधारवादी नीति से कभी क्रांति नही आ सकती.

राहत और बहुत सारे कामरेड बहुत दाशोपंज की स्थिति मे थे. देखें ऊंट किधर करवट बदलता है. साफ लग रहा था कि जल्दी ही कुछ होने वाला है. लेकिन क्या होगा, कब होगा और कैसे होगा, इसके बारे में कोई कुछ नही कह सकता था सब उत्सुकता और बेताबी से उस क्षण की प्रतीक्षा कर रहे थे जब अनिश्चितता की यह स्थिति समाप्त हो जाएगी.

उन्हीं दिनों कामरेड बनर्जी हफ्ते-दस दिन बम्बई में रहकर लौटा. बम्बई की यात्रा उसने निजी काम से की थी लेकिन वहा वह पार्टी हैड

क्वाटर्स भी गया था. नेताओं से तो खैर क्या भेंट हो पाती. हां वह अपने ही जैसे रैंक्स के कुछ कामरेडों से मिला था.

पटने लौटकर उसने जो समाचार सुनाया वह बहुतों के लिए काफी भयावह था. पार्टी सशस्त्र संघर्ष की नीति अपनाने की दिशा में जा रही है. वर्तमान नीति के समर्थकों की संख्या दिन-प्रतिदिन घटती जा रही है.. शीघ्र ही पार्टी कांग्रेस बुलाई जाने वाली है जिसमें नई नीति के बारे में निर्णय लिया जाएगा.

एक महीने के अन्दर-अन्दर कलकत्ते में पार्टी कांग्रेस का अधिवेशन हुआ और नई नीति की घोषणा कर दी गयी. पुरानी सुधारवादी नीति रद्द कर दी गयी और सशस्त्र संघर्ष के जरिए क्रांति लाने की नीति पार्टी ने अपना ली. पार्टी के इस नए मोड़ ने बहुतों को काफी आतंकित कर दिया था.

राहत भी कुछ कम आतंकित नहीं था. वह अब कुछ उखड़ा-उखड़ा-सा दिखाई देता था. राजनीतिक बातचीत में भी अब वह पहले जैसा जोश और गरमी नहीं दिखाता था. लगता था वह किसी चिन्ता से आक्रांत है. ऊपर से अपने को संयत रखने की कोशिश करता था लेकिन भीतर की उथल-पुथल उसके चेहरे और बाह्य आचरण पर अपनी छाप छोड़े बिना नहीं रहती थी.

बात यह थी कि नीति बदल जाने के कारण पार्टी का रवैया सदस्यों के प्रति बहुत सख्त हो गया था. राहत जैसे नौजवानों से भी जो केवल सांस्कृतिक मोरचे पर ही काम करने के आदी थे वह ऐसे काम लेना चाहती थी कि जो उनके वश के नहीं थे. ऊपर से तो ये बड़ी-से-बड़ी चुनौती का सामना करने का दावा करते थे लेकिन मन-ही-मन ये बहुत भयभीत रहते थे. अजीब-सी दहशत इन्हें घेरे रहती थी.

क्रांति का विचार इनके मुँह में छछूंदर की तरह अटककर रह गया था. न उगलते बनती थी और न निगलते. पार्टी को छोड़कर अलग हो जाते हैं तो भगोड़े कहलाते हैं और पार्टी से चिपटे रहते हैं तो जोखिम और खतरे से भरा जीवन असह्य लगता था.

उन्ही दिनों की बात है. मार्च का महीना था. मैं अपनी कोठरी में गहरी नींद सो रहा था एकाएक दरवाजे पर जोर की दस्तक हुई जिससे मेरी आंख खुल गई, रात के दो बजे होंगे. मैंने उठकर दरवाजा खोला. देखा राहत खड़ा है. हैरत हुई कि रात में इस समय वह मेरे यहां क्यों आया है. वह कुरता-पाजामा पहने था और हाथ में चमड़े का फोलियो का बैग था. फोलियो बैग में सामान कुछ ज्यादा ही था क्योंकि वह फूला-फूला सा लग रहा था.

राहत ने बताया कि उसे तड़के ही किसी जरूरी काम से बाहर जाना हैं. इसलिए रात बिताने के लिए मेरे यहां आ गया है. मैंने अपने पास ही एक चारपाई पर उसके लिए बिस्तर बिछा दिया. फिर हम दोनों में और कोई बात नही हुई. वह बहुत देर तक बिस्तर पर करवटें बदलता रहा. वह बहुत उद्विग्न दिखायी दे रहा था. मैंने उसे कुरेदने की कोशिश की लेकिन वह कुछ खुला नहीं. फिर जाने कब मुझे नींद आ गई और जब मैं सोकर उठा तो वह जा चुका था.

उसी रोज पता चला कि राहत को पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया है. ईस घटना की पूरी तफसील मुझे बाद मे मालूम हुई. वह रात में पार्टी सेल की मीटिंग मे भाग लेने के बाद मेरे यहां आया था. मीटिंग वातावरण में और एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण उद्देश्य के लिए हुई थी. रेलवे यूनियन ने, जो पार्टी की हिदायतों के मुताबिक काम करती थी आम हड़ताल कराने का फैसला किया था.

रेलवे के तमाम कर्मचारियों से अपील की गई थी कि वे नौ मार्च को काम करना बन्द कर दें. लेकिन कई दूसरी यूनियनें जो पार्टी के असर में नही थी. हड़ताल का विरोध कर रही थी. इस हड़ताल को लेकर कामरेड में बहुत उत्साह था और वे बहुत उत्तेजित थे. उन्हें लगता था कि यह हड़ताल कामयाब हो गई तो समझ लेना चाहिए कि क्रांति आ गई. उन दिनों कइयों के मुंह से मैंने ये पंक्तियां सुनी थीं :

नौ मारिच को साथी
रेल का पहिया जाम करेंगे.

सेल की मीटिंग मे सेल सेक्रेटरी ने बहुत गम्भीर लहजे में कहा:

"साथियो ! इस समय हम लोग इतिहास के एक बहुत अहम मोड़ पर खड़े हैं. क्रांति अब किसी कवि की कल्पना नहीं रही. वह सामने नजर आ रही है. उसके रास्ते में एक छोटी दीवार जो खड़ी है उसे बस तोड़ने-भर की देर है. रेलवे मजदूरों की यह हड़ताल क्रांति के द्वार की कुंजी बन गई है. हमें तन-मन-धन लगाकर इस हड़ताल को सफल बनाना है. बड़ी-से-बड़ी कुरबानी के लिए हमें तैयार रहना है." इसके बाद सेल सेक्रेटरी सब सदस्यों को निदेश देने लगा था कि इस सिलसिले मे किसे क्या करना है. उसने राहत से कहा—"देखो कामरेड, तुम्हारा काम बहुत आसान है. तुम लीफलेट्स का यह बंडल अपने पास रख लो. कल सवेरे जब गैंगमैन ड्यूटी पर आने लगें तो इन्हें उनमे बांट देना."

यह सुनकर राहत की तो घिग्घी बँध गई. स्टेशन को तो दूर-दूर तक पुलिस ने अपने घेरे में ले लिया है. ऐसे में गैंगमैनों में लीफलैट बांटना जान-बूझकर मौत के मुंह में जाना है. इसकी कल्पना करके ही उसका कलेजा धड़कने लगा था. सेल सेक्रेटरी जैसे उसकी परेशानी को भांपते हुए बोला :

"कामरेड तुम चुप क्यों हो गए ? यह कोई मुश्किल काम है क्या ?'

राहत ने एक दम मरे हुए स्वर में कहा : "कामरेड वहां पुलिस जो होगी."

यह सुनना था कि सेल सेक्रेटरी आग-बबूला हो गया. वह तकरीबन चीखकर बोला : "पुलिस तो होगी ही वहां. पुलिस तुम्हें पकड़ सकती है. यही डर है न तुम को ! जरूर पकड़ सकती है. बल्कि मैं पूरे यकीन से कह सकता हूं कि वह तुम्हें जरूर पकड़ेगी. तो क्या गिरफ्तारी के डर से हम सब घरों में छुपकर बैठ जाएं."

फिर थोड़ा नर्म पड़कर उसने कहा : "कामरेड, तुम्हें तो सिर्फ गिरफ्तारी का डर है. जरा उन मजदूरों के बारे में सोचो जिन्हें गोलियों का सामना करना पड़ेगा. उनके बाल-बच्चों का क्या हाल होगा. तुम तो फिर भी पढ़े-लिखे हो. जेल से लौटकर दस बच्चो को पढ़ाओगे तो रोटी का खर्च निकाल लोगे."

राहत इसके आगे कुछ और न कह सका. उसने लीफलेटों का बण्डल फोलियो बैग में रखा और मीटिंग से उठकर आ गया. लेकिन उसका दिल

बुरी तरह धड़क रहा था. वह बहुत देर तक सड़कों पर निरुद्देश्य घूमता रहा. उसके मन में बड़ी उथल-पुथल मची हुई थी. आसन्न संकट का खयाल उसे उद्वेलित कर रहा था. परेशानी की हालत में वह गंगा के तट की तरफ जा निकला और एक सुनसान जगह पर बैठकर दूर टिमटिमाती रोशनियों को देखने लगा. फिर वहाँ से उठकर वह मेरे यहाँ आ गया था.

इस दौरान उसके मन में बार-बार यह विचार आता था कि वह इस थैले को कहीं फेंक दे और खुद पटना छोड़कर कहीं और चला जाए जहाँ न सेल-सेक्रेटरी का डर हो और न हड़ताल की आशंका लेकिन दूसरे ही क्षण उसके सामने सेल-सेक्रेटरी का गम्भीर चेहरा आ जाता और उसका संकल्प ढीला पड़ने लगता. 'भगोड़ा. रेनीगेड. गद्दार'—हथौड़े की चोट की तरह ये शब्द उसके दिमाग से टकराते और उसकी नसें झनझना उठती.

लीफलेट बाँटने में राहत ने भरसक बहुत सावधानी बरती थी. वह बहुत देर तक लाइन के किनारे-किनारे चलता गया था. थोड़े-थोड़े फासले पर पुलिस के सिपाही खड़े दिखाई दे रहे थे. वह बहुत होशियारी से उनकी निगाहों से बचता हुआ चल रहा था. गैंगमैनों की टोलियाँ काम पर आ चुकी थीं. लेकिन बहुत साहस बटोरने के बावजूद थैले से लीफलेट निकालने में वह सफल नहीं हो रहा था.

इस तरह जब वह बहुत दूर निकल आया और आसपास कोई सिपाही भी दिखाई नहीं देने लगा तो उसने चुपके से थैला खोलकर लीफलेटों का बण्डल निकाल लिया और सामने गैंगमैनों की टोली के पास पहुँचकर उनके बीच बण्डल को इस तरह फेंक दिया जैसे वह बिच्छुओं से भरा कोई थैला हो. बण्डल को इस तरह फेंककर वह तेजी से मुड़ा और पटरियों-तारों को फाँदता हुआ वह तकरीबन भागने लगा.

गैंगमैनों में खलबली-सी मच गई थी. लगता था, उनके बीच किसी ने बम फेंक दिया है. कुछ हो-हल्ला भी राहत को सुनाई दिया था. लेकिन उसका ध्यान उधर बिलकुल नहीं था. वह जल्दी-से-जल्दी इस इलाके से निकल जाना चाहता था. लेकिन ठीक उसी समय जाने कहाँ से एक सिपाही टपक पड़ा. उसने राहत को दोनों हाथों से इस तरह दबोच लिया कि लगता

था, उसकी पसलियां चकनाचूर हो जाएंगी. वह लाख सिपाही को समझाता रहा कि वह निर्दोष है लेकिन उसने अपनी गिरफ्त ढीली नहीं की इस बीच गैंगमैन भी वहाँ पहुँच गए थे और सब एक जबान से कह रहे थे : "एही सार फेंकले हल हुजूर."

अगले रोज अखबारों से पता चला कि रेलवे कर्मचारियों की हड़ताल जो अपने साथ क्रान्ति का शुभ समाचार ला रही थी टायँ-टायँ फिस होकर रह गई था.

राहत कई रोज तक जेल में रहा. फिर सद्दन भाई और तुफैल अहमद की कोशिश और दौड़ धूप की वजह से माफीनामा देने पर उसे रिहा कर दिया गया. राहत ने जेल से निकलकर पार्टी और क्रान्ति को सौ गालियाँ दी और अपने जीवन की दिशा एकदम बदल दी.

बाद में मालूम हुआ कि पार्टी का वह दौर भी जिसमें राहत को जेल की हवा खानी पड़ी थी शीघ्र ही समाप्त हो गया. लीडरशिप में फूट पड़ गई थी और कहा जाने लगा था कि पार्टी अल्ट्रा-लेफ्ट एडवेंचरिज्म की शिकार हो गई थी.

राहत ने फिर कभी पार्टी की तरफ रुख नहीं किया. पटने में अब उसके दो पेट्रोल पम्प हैं और एक्जिबीशन रोड वाले मकान में वह खुद रहने लगा है. उसके पास फिएट गाड़ी है, घर में नौकर-चाकर हैं और ऐश करने के लिए पैसा है. कभी पटने जाना होता है और उससे मुलाकात होती है तो शराब की चुस्की लेते हुए वह कहता है : "यार क्या दिन थे वे भी. लगता था, क्रान्ति आनेवाली ही है. साले लीडर भी कहते थे, रेवुलूशन इज राउंड द कार्नर. अब उन चूतियों से पूछो तुम्हारी वह क्रान्ति कहाँ गई. और कुछ तो नहीं, हाँ इस क्रान्ति के चक्कर में मुझे एक घटिया खानदान में शादी जरूर करनी पड़ी. वरना पटने के ऊँचे-से ऊँचे खानदान में मेरी शादी हो सकती थी. खैर छोड़ो यार इस किस्से को. लो व्हिस्की पियो. इस देश में साली क्रान्ति-व्रान्ति कभी नहीं आएगी."

ऐसे मौकों पर मैं उसके चेहरे को गौर से देखने लगता हूँ. स्कूल के वे दिन मुझे याद आते हैं जब राहत आई० सी० एस० बनने के स्वप्न देखा करता था. मुझे लगता है, इस स्वप्न ने उसका साथ कभी नहीं छोड़ा, उस समय भी नहीं जब वह तन-मन-धन से क्रान्ति के लिए प्रयत्नशील था. और तब मुझे उसका चेहरा एक व्यक्ति का चेहरा नहीं लगता. वह एक समूचे वर्ग का चेहरा बन जाता है जो क्रान्ति का विचार तो दे सकता है लेकिन क्रान्ति नहीं ला सकता.